शोधादर्श

३४

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

मार्च १९९८

शोधादर्श

३४

प्रकाशक
तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
मार्च १९९८

संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : (स्व.) डा० ज्योति प्रसाद जैन
प्रबन्ध/प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन
महामन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६ ००४
सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन

★ विषय-क्रम ★

१. गुरुगुण-कीर्तन : मल्लिषेण —श्री रमा कान्त जैन ५
२. Essence of Jainism —डा० ज्योति प्रसाद जैन १०
३. सम्पादकीय
तीर्थ क्षेत्रों पर भट्टारक पीठों की स्थापना की वकालत
—श्री अजित प्रसाद जैन १५
४. Jainism —प्रो० राम शरण शर्मा २६
(सं० डा० शशि कान्त)
५. जैन वाङ्मय में अनुयोग : स्वरूप और स्वभाव
—डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया ४१
६. जैन तत्त्व विचार में जीव तत्त्व : एक समीक्षा
—डा० विनोद कुमार तिवारी ४६
७. विकासवाद : एक समीक्षा —आचार्य शिवचन्द्र शर्मा ५०
८. विचार विन्दु
सत्यान्नस्ति परोधर्मः : मुनि व धनी का मोर्चा
—श्रीमती वासंती शहा ५३
९. चिन्तन कण
लोक रचना, पंचमेरु, नरक भूमियों और
स्वर्गों की अवधारणा —श्री सुखमाल चन्द्र जैन ५६
—श्री अजित प्रसाद जैन ६२
१०. जिज्ञासा : समाधान —श्री इन्द्रजीत जैन ६४
—श्री प्रकाश चन्द्र जैन ६४
—जस्टिस एम० एल० जैन ६६
—डा० शशि कान्त ७०
११. आइये, प्रण करें —श्री राजीव कान्त जैन ७२
१२. भवसागर पार लगेगा कैसे ? —श्री रमा कान्त जैन ७३

१३. सोचो, कैसे निर्मल मन होगा —श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' ७४
१४. रिपोर्ट
डा० ज्योति प्रसाद जैन की जन्म जयन्ति तथा
श्री अजित प्रसाद जैन का अभिनन्दन —श्री रमा कान्त जैन ७५
१५. परिचय
डा० अरविन्द कुमार जैन, राज्य मंत्री, उ० प्र० —डा० शशि कान्त ७७
१६. साहित्य सत्कार
जैन संस्कृति के आलोक में विदिशा, मन्दिर,
स्वराज्य और जैन महिलायें —श्री अजित प्रसाद जैन ७६
आचार्य कुन्दकुन्द देव,
भारतीय दर्शन की विशेषतायें —श्री रमा कान्त जैन ८०
History of Jainism in Bihar —डा० शशि कान्त ८२
१७. समाचार विमर्श —श्री अजित प्रसाद जैन
भट्टारक जी के वाहन त्याग की पृष्ठभूमि ८३
बलात्कार के आरोपी दिवंगत मुनि निर्दोष सिद्ध ८४
१८. अभिनन्दन ८७
१९. समाचार विविधा ८८
२०. शोक संवेदन ९०
२१. पाठकों की दृष्टि में ९१
पं० पद्मचन्द्र जैन, श्री हुकमचंद जैन, डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया
ब्र० संदीप जैन 'सरल', डा० अनिल कुमार जैन, डा० राम सजीवन
शुक्ल, डा० विनोद कुमार तिवारी, श्री मोती लाल 'विजय'
प्रो० डा० धर्म चन्द्र जैन, पं० अमृत लाल जैन शास्त्री
सुश्री विद्या देवी जैन, डा० हरिश्चन्द्र जैन शास्त्री
पं० मनोहर मारवड़कर, श्री इन्द्रजीत जैन, साहु शैलेन्द्र कुमार जैन
डा० परमानन्द जड़िया, डा० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
डा० कमलेश कुमार जैन, श्री मदन मोहन वर्मा
डा० शैलेन्द्र कुमार शर्मा, श्री नीरज जैन, डा० परमेश्वर सोलंकी
२२. इस अंक के लेखक ९८

मूल्य १५ रु०

वार्षिक शुल्क ४० रु० (मनीआर्डर द्वारा प्रेष्य)

आवश्यक

कृपया वर्ष १९९८ का वार्षिक शुल्क ४० रु० (चालीस रुपये) मनीआर्डर द्वारा 'महामंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति उ. प्र., ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' को यथाशीघ्र भेजने का अनुग्रह करें।

—प्रबन्ध सम्पादक

आवश्यक सूचना

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक एवं अप्रकाशित लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किये जाने चाहिएं। यथासम्भव लेख ३–४ टंकित पृष्ठ से अधिक न हो। **लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।**

शोधादर्श में **समीक्षार्थ** पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की **दो प्रतियां** भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु **शोधादर्श** का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक / पत्रिका सम्पादक को 'ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों/न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

—प्रबन्ध सम्पादक

निवेदन

सुधि पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा उद्‌बोधन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुंचने की सूचना भी देवें।

– सम्पादक मण्डल

मुद्रक : रत्न-ज्योति प्रेस, चारबाग, लखनऊ-४ (उ० प्र०)

णाणं णरस्स सारं - सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श-३४

वीर निर्वाण संवत् २५२४ मार्च १९९८ ई०

गुरुगुण-कीर्तन

मल्लिषेण

भाषाद्वय-कवितायां कवयो दर्पं वहन्ति तावदिह ।
नालोकयन्ति यावत्कविशेखर-मल्लिषेण मुनिम् ।।

—कामचाण्डाली कल्प, अन्त्य प्रशस्ति श्लोक १

भावार्थ—इस संसार में कविगण दोनों भाषाओं (संस्कृत और प्राकृत) में काव्य रचना करने में तभी तक दर्प (अभिमान) अनुभव करते हैं जब तक कि वे कविशेखर (कवियों के सिरमौर) मल्लिषेण मुनि को नहीं देखते हैं, अर्थात् कवियों में अग्रणी मल्लिषेण मुनि की संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में काव्य रचना अन्य कवियों की काव्य रचना से बढ़कर है ।

कुमतिमतविभेदी जैनतत्त्वार्थवेदी हृतदुरितसमूहः क्षीणसंसारमोहः ।
भवजलधितरण्डो वाग्वरोवावकरण्डों विबुधकुमुदचन्द्रो मल्लिषेणो गणीन्द्रः ।।—**ज्वालिनी कल्प**, अन्त्य प्रशस्ति श्लोक ४

भावार्थ—कुबुद्धि वालों के मतों का खण्डन करने वाले, जैन तत्त्व के अर्थ अर्थात् जैन सिद्धांत के मर्म को जानने वाले, पाप-समूह को हरने वाले, संसार से मोह जिनका क्षीण हो गया है, भवसागर को पार करने वाले, वाणी-श्रेष्ठ, वाणी-भण्डार, कुमुद और चन्द्रमा के समान धवल, गणियों में इन्द्र (मुनियों में श्रेष्ठ) मल्लिषेण थे ।

उपर्युक्त दो श्लोकों में जिन मुनि मल्लिषेण का 'कविशेखर', 'वाग्वर' और 'वाक्करण्ड' के रूप में उल्लेख है, वह **हरिवंशपुराण**

के रचयिता **जिनसेन सूरि** पुन्नाट (७८३ ई०) और **आदिपुराण** के लेखक जिनसेन सूरि (७६०-८५० ई०) से भिन्न उन जिनसेन सूरि के शिष्य थे जिनके गुरु कनकसेन और प्रगुरु अजितसेन सूरि तथा अनुज प्रख्यात-कीर्ति नरेन्द्रसेन थे। पं० परमानन्द शास्त्री और पं० नाथूराम प्रेमी के मतानुसार यह अजितसेन सूरि वही हैं जो गंगवंशीय नरेश राचमल्ल (९७५-९८४ ई०) और उनके मन्त्री एवं सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे और जिनका **गोम्मटसार** (९८३-९८४ ई०) के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने 'भुवणगुरु' कह कर सादर उल्लेख किया है।

यद्यपि इन मल्लिषेण मुनि ने स्वयं को उभय (संस्कृत-प्राकृत) भाषा कवि-चक्रवर्ती लिखा है, उनकी अब तक जो भी रचनायें प्रकाश में आई हैं, वे सब संस्कृत में ही हैं। प्रकाश में आई उनकी रचनाओं के नाम हैं—**नागकुमार-चरित** अपरनाम **श्रीपंचमीसत्कथा, सरस्वती कल्प** अपरनाम **भारती कल्प, कामचाण्डाली कल्प, ज्वालिनी कल्प, भैरवपद्मावती कल्प सटीक** तथा **महापुराण**।

महापुराण को छोड़कर अन्य किसी रचना में रचना-स्थान और रचना-काल का उल्लेख नहीं है। **महापुराण** की अन्त्य प्रशस्ति के अनुसार श्रीकविचक्रवर्ती यति श्रीमल्लिषेण ने तीर्थस्थल श्री मुलगुन्द नामक नगर में श्रीजैनधर्मालय (जैन मन्दिर) में शक संवत् ९६९ (१०४७ ई०) की ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को इस ग्रन्थ को पूर्ण किया था। स्वयं को उन्होंने इसके अन्तिम श्लोक में "गारुडमंत्र-वादसकलागम लक्षणतर्कवेदिना" और **नागकुमार चरित** की प्रशस्ति में 'बिबुधाग्रणी, गुणनिधि, सकल आगमों में निपुण और वाग्देवतालंकृत' सूचित किया है। अपने को मुनि, गणी और यति लिखने वाले इन मल्लिषेण के उपर्युक्त ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में इन्हें श्रीमल्लिषेणसूरि नाम से भी अभिसूचित किया गया है; सूरि शब्द का प्रयोग मुनि के पर्यायवाची के रूप में किया गया प्रतीत होता है। **सरस्वती कल्प** के श्लोक ९६ में उन्होंने स्वयं को श्रीषेण का सूनु (पुत्र) बताया है।

मुलगुन्द की पहचान कर्णाटक राज्य के धारवाड जिले की तहसील गदग के दक्षिण-पश्चिम में स्थित मुलगुण्ड नामक स्थान से की गई है, जहां अभी भी ४ जैन मन्दिर बताये जाते हैं और जिसकी मल्लिषेण के समय में तीर्थ के रूप में मान्यता रही थी। पं० नाथूराम प्रेमी के विचार में मल्लिषेण कोई मठपति रहे होंगे और उनका मठ उक्त स्थान पर रहा होगा। उनकी मान्यता है कि **कामचाण्डाली कल्प, ज्वालिनी कल्प, भैरवपद्मावती कल्प** और **सरस्वती कल्प** जैसे ग्रन्थों के रचयिता और मन्त्र-तन्त्र के ज्ञाता यह मल्लिषेण मुनि अपने गृहस्थ शिष्यों के कल्याणार्थ मन्त्र-तन्त्र द्वारा उनके रोगोपचार आदि में प्रवृत्त रहे होंगे और वे कम से कम परम विरक्त वनवासी मुनि नहीं रहे होंगे।

मल्लिषेण नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। ग्रन्थ सूचियों में मल्लिषेण के नाम से **प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, वज्रपंजर-विधान, ब्रह्मविद्या** आदि अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, किन्तु अपने **जैन साहित्य और इतिहास** में प्रेमी जी ने लिखा है कि इन ग्रन्थों के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे इन्हीं मल्लिषेण के हैं अथवा किसी अन्य मल्लिषेण के।

सज्जनचित्तवल्लभ नाम का २५ पद्यों का एक छोटा संस्कृत काव्य भी मल्लिषेण के नाम से हिन्दी पद्यानुवाद और हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित हुआ है। उसमें मुनियों को अपने चरित्र को निर्मल रखने, ग्राम के समीप न रहने, स्त्रियों से सम्पर्क न रखने, परिग्रह-धन आदि की आकांक्षा न करने, भिक्षा में जो कुछ रूखा-सूखा मिले उसी से सन्तोषपूर्वक पेट भर लेने और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर अपने यति नाम को सार्थक करने का उपदेश दिया गया है। चूंकि इस काव्य का विषय मन्त्र-तन्त्र में विश्वास करने वाले मल्लिषेण की प्रवृत्ति से मेल नहीं खाता है, प्रेमी जी का विचार है कि इस काव्य के रचयिता कोई दूसरे ही मल्लिषेण हैं जो वनवासी हैं, मठवासी नहीं। किन्तु चूंकि किसी एक व्यक्ति में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां पाया जाना सर्वथा असम्भव नहीं है, प्रेमी जी की यह धारणा सही हो, आवश्यक नहीं है।

इनके अतिरिक्त **विद्यानुवाद** या **विद्यानुशासन** नाम का एक और ग्रन्थ, जो २४ अध्यायों में पूर्ण हुआ है, मल्लिषेण का बताया जाता है। इसकी एक सचित्र प्रति जयपुर के पं० लूणकरण जी के शास्त्र भण्डार में तथा दो प्रतियां—एक सम्पूर्ण २४ अध्यायों की तथा दूसरी अपूर्ण ७ अध्यायों की (श्री चन्द्रशेखर शास्त्री की भाषा टीका सहित) मुम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में उपलब्ध बताई जाती हैं। इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण प्रति में आदि–अन्त में ग्रन्थ-कर्ता का नाम नहीं है और न ही अन्त में कोई प्रशस्ति है। अपूर्ण ग्रन्थ की भाषा टीका में श्री चन्द्रशेखर शास्त्री ने प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में उसे श्री सुकुमारसेन मुनि विरचित लिखा है, किन्तु उसका आधार ज्ञात नहीं है। प्रेमी जी का मानना है कि यह ग्रन्थ मल्लिषेण का तो निश्चय से नहीं है, उनसे पीछे के किसी अन्य का है। पं० मोहनलाल जी जवेरी के कथनानुसार इसके कर्ता मतिसागर हैं।

इस प्रकार विवेच्य मल्लिषेण सूरि की अब तक ज्ञात रचनाएं पूर्वोक्त ६ संस्कृत ग्रन्थ हैं जिनकी प्रशस्तियां, परिचयात्मक प्रस्तावना सहित, पं० परमानन्द जैन शास्त्री द्वारा संकलित कर वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, से प्रकाशित **जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह,** प्रथम भाग, में दी हुई हैं। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय निम्नवत है—

(१) **नागकुमार चरित**—श्री नेमि जिन को प्रणाम कर प्रारम्भ किये गये तथा पांच सर्गों और ५०७ श्लोकों में पूर्ण हुए इस खण्ड-काव्य में भगवान महावीर के गणधर गौतम द्वारा मगधाधिप को सुनाये गये नागकुमार के चारु चरित का वर्णन है। जैसा कि कवि मल्लिषेण ने ग्रन्थ के आरम्भ में अंकित किया है, जयदेव आदि कवियों द्वारा गद्य-पद्य में रचा गया **नागकुमार चरित** मन्दबुद्धि वालों के लिये विषम होने के कारण इसे मनोहर रूप में पद्यबद्ध किया गया। ग्रन्थ-प्रशस्ति के श्लोक ५ में भव्यों के दुरितऔघ (पापों) का नाश करने वाली और संसार-विच्छेदिनी इस चरित कथा को **श्रीपंचमीसत्कथा** की संज्ञा दी गई है।

(२) **सरस्वती कल्प** अपरनाम **भारती कल्प** मन्त्र ग्रन्थ है। इसमें ९७ पद्य हैं। वाणी वन्दना करते हुए कवि कहता है—

अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी ।
त्रिनेत्रा पातु मां **वाणी** जटाबालेन्दुमण्डिता ।। २ ।।

और इस विश्वास के साथ यह कल्प पूर्ण करता है—

सूर्याचन्द्रमसौ यावन्मेदिनी भूधरार्णवाः ।
तावत्सरस्वतीकल्पः स्थेयाच्चेतसि धीमताम् ।। ९७ ।।

(३) **कामचाण्डाली कल्प**—मन्त्रवाद से युक्त स्व-पर उपकार करने वाले इस कल्प की रचना कवि ने कामदेव के बाण को खंडित करने वाले **श्री वीर जिन** का नमन कर की और कामचाण्डाली की स्तुति निम्नवत की—

भूषिताभरणैः सर्वैर्मुक्तकेशा निरम्बरा ।
पातु मां कामचाण्डाली कृष्णवर्णा चतुर्भुजा ।। २ ।।

(४) **ज्वालिनी कल्प**—शरद चन्द्र के समान प्रभा वाले चंद्रप्रभ जिनेन्द्र को नमन कर कवि ने संकल्पित सम प्रभा वाले इस कल्प का वर्णन किया है। इसकी एक प्रति जिसमें १४ पत्र हैं और जो वि० सं० १५६२ (१५०५ ई०) की लिखी हुई है, सेठ माणिक चन्द्र के ग्रंथ-संग्रह में बताई जाती है।

(५) **भैरवपद्मावती कल्प सटीक**—दस अधिकारों में निबद्ध इस मंत्र-तंत्र ग्रन्थ में ४०० अनुष्टुप श्लोक हैं। अधिकारों के नाम हैं—मन्त्रिलक्षण, सकलीकरण, देव्यर्चन, द्वादशरंजिका-मंत्रोद्धार, क्रोधादि-स्तंभन, अङ्गनाकर्षण, वशीकरणयन्त्र, निमित्त, वशीकरणतंत्र और गारुडतंत्र। कमठ द्वारा किये गये उद्दंड घोर उपसर्ग पर विजय पाने वाले भगवान पार्श्वनाथ को प्रणाम कर कवि ने अभीष्ट फल प्रदान करने वाले इस **भैरवपद्मावती कल्प** का वर्णन किया है और अन्त में यह आशा-विश्वास व्यक्त किया है—

यावद्वार्धि-महीधर-तारागण-गगन-चन्द्र-दिनपतय ।
तिष्ठति तावदास्ता भैरवपद्मावतीकल्पः ।।

(६) **महापुराण** में त्रेसठ शलाका पुरुषों की कथा संक्षेप में दो हजार श्लोकों में निबद्ध की गई है। इसकी एक प्रति कन्नडी लिपि में कोल्हापुर के लक्ष्मीसेन भट्टारक के मठ में संग्रहीत बताई जाती है।

—**रमा कान्त जैन**

ESSENCE OF JAINISM

—Dr. Jyoti Prasad Jain

The term 'Jainism' is derived from 'Jina' (meaning 'conqueror of self'), an epithet used for the Tirthankaras (literally, 'Ford-finders'), twenty-four in number with Vardhamana Mahavira (599-527 B. C.) as the last of them. He is credited with reorganising the four-fold order (ascetics and laity, of both sexes) and with giving Jainism its present shape. That Mahavira was a contemporary of Gautama the Buddha, that Jainism is much older than Mahavira or the Buddha and that at least Parshvanatha (877-777 B. C.), the penultimate Tirthankara, was a historical person, are facts admitted by the majority of modern scholars. Of the two streams, the Brahmana and the Shramana, of ancient Indian culture and religious thought, it was the latter which is believed to have emanated from that great Magadhan religion which was indigenous in its essential traits and which must have flourished on the banks of the Ganga in Eastern India long before the advent of the Vedic Aryans into mid-India, and it was this current which mothered and nursed the creed of the Jinas which has been known by a number of names, such as, **Shramana, Nirgrantha, Arhat, Ahimsa, Anekanta, Syadvada, Bhavya, Sewade, Saraogi, Jain, etc.**

We need not go into a detailed exposition of the tenets and doctrines of Jainism. It would suffice to say that Jainism does not accept creation in the Nyaya-Vaisheshika sense, nor emanation, whether actual or apparent, in the Vedantic sense. With it the universe is existential and real and the cosmic

constituents are themselves capable of explaining the diverse phenominae by their mutual action and counter-action. The world of existence is composed of two principal categories, Jiva (life, soul or animate substances) and Ajiva (non-life or matter), the first being the enjoyer and the actor and the second the enjoyed and the acted upon. It is the interaction of these two which keeps the world going. Subtle matter in the form of Karma plays the same role in Jainism as Maya or Avidya does in the Vedanta philosophy; it flows into the soul when the latter has become a receptacle for it under the influence of attachment and aversion, diverse passions and emotions. The Karma doctrine as an aspect of the Jaina conception of matter, is a complex and elaborate system by itself, a parallel to which is unknown in other systems.

With the plain dogma that an individval soul has for ever been associated with matter (Karmic matter), Jainism explains the **samsara** (the world of becoming, the beginningless round of births and deaths) as full of pain, suffering, anxiety and misery, and as a remedy against which religion is needed. It is perhaps why, unlike several other philosophical systems, Jainism came to be an institutional religion with all the requisite accessories. The strong realistic tone, apparently an outcome of common sense and analytical approach to objectivity, seems to have kept the Jains from adopting philosophical extremes. For each individual soul, its **samsara**, although it has no beginning, can certainly have an end. When one becomes alive to the dynamism inherent in himself and launches upon the path of fresh endeavour

with heroic fortitude for liberation from the karmic bondage, what has been the vale of tears turns into the vale of soul-making; the journey's end is reached when the mundane soul has purged itself of all impurities alien to its essential nature, has freed itself from all karmic fetters and has thus attained the sublime, transcendental solitariness, perfection and absoluteness of the Kevalin, Arhat or Jina. This perfect, bodiless and pure soul then ascends to the summit of the universe, isolated yet unlimited and all-pervading in its omniscience. This is the final stage, that of the Siddha (the Liberated), the ultimate goal of all religious pursuit according to Jainism.

In its essential nature Jainism may be described as an ethical religion **par excellence**, because it stresses that to acquire the capability of successfully launching upon the path of liberation one has to clear his mind of all passions and emotions like infatuation, delusion, attachment, aversion, anger, hatred, greed, pride or vanity and deceit and, above all, the lusts of the flesh. All the penances, austerities and the discipline of body, word and mind are practised with the sole aim of making the soul the master of the body. The pampered body can never carry the soul accross the ocean, that is, **samsara.** Man is the measure of all things; he is more favoured than the gods, for no god can attain **nirvana** (liberation) without being born as man. Man himself is, therefore, God in the making. No extracosmic being need be worshipped or believed in. Perfection and bliss lie inherent in oneself waiting to be made manifest. That though evil exists and is very real but can be overcome by one's spiritual

force, is the eternal hope that enlivens human efforts for liberation. The pursuer of the path should aim at, and exert himself for, acquiring the capacity to overcome the limitations of bodily nature through the aspirations of his spiritual nature. Even the worship of the Jinas or Tirthankaras is recommended not because they can help the worshipper in, or hinder him from, working out his salvation but because of the inherent power of all forms of true worship to elevate the soul of the worshipper, just as giving away in charity alone is good for the giver.

An important feature of Jain philosophy is its doctrine of **Anekanta** or **Syadvada** according to which it is impossible for a person to have absolute incontrovertible knowledge of reality. He can know it only from his own perspective and, therefore, must recognise that it is not the whole truth. When one realises that reality possesses many facets. not all of which are known to him, he is apt to grow tolerant of other people's point of view. Two seemingly contrary statements may both be found to be true if only we take the trouble of finding out the different points of view from which they were made.

The path to liberation consist in **Samyak-darshana** (Right Faith), **Samyak-jnana** (Right Knowledge) and **Samyak-charitra** (Right Conduct), known as the **Tri-ratna** or 'Three Gems'. The five most adorable beings **(Pancha-parameshthin)** are the Arhantas (Jinas), Siddhas, Acharyas, Upadhyayas and Sadhus, and the four Sharanas (abodes or refuge) are the Arhantas, Siddhas, Sadhus (Nirgrantha ascetics) and the Dharma. **Pramoda** (pleasure in the company of the meritorious), **Maitri** (friendship for all

living beings), **Karunya** (compassion for those in distress) and **Madhyastha** (indifference towards the perversely inclined) are the four noble aspirations. The five sins to be shunned and abstained are injury to life, lying, stealing, unchastity and unchecked desire for acquisition; the corresponding five merits to be cultivated being ahimsa, truthfulness, honesty, celibacy and possessionlessness, which are observed in the form of partial vows (**Anuvratas**) by the laity (Shravakas and Shravikas) and as absolute vows (**Mahavratas**) by the ascetics (Munis and Aryikas), who constitute the four limbs of the Sangha (congregational order). The rules of conduct and self-discipline are graded according to the capacity of the observer.

The six essential daily duties (**Shadavashyaka**) of a lay devotee are worship of the Deva (Jina), serving of the Gurus, study of the scriptures, practice of self-discipline, abstinence or austerity, and four-fold charity (giving away of food, medicine, knowledge and protection to the needy). The ten-fold Dharma is said to consist in forgiveness, humility, simplicity, truthfulness, greedlessness, self-control, penance, renunciation, non-covetousness and continence. In short, Ahimsa, both in its positive and negative aspects, is the keynote of practical Jainism.

——

सम्पादकीय

तीर्थ क्षेत्रों पर भट्टारक पीठों की स्थापना की वकालत

दिगम्बर जैन आचार्य श्री दयासागर ने विगत वर्ष अपना चातुर्मास श्री दिगम्बर सिद्ध क्षेत्र कोठो पानागढ़ (गुजरात) में स्थापित किया था। अपने चातुर्मास स्थल से उन्होंने "श्री दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्रों की रक्षा कैसे हो ?" शीर्षक से एक परिपत्र प्रसारित किया था जो सम्बोधित तो श्रवणबेलगोला मठ के भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति स्वामी जी को था पर जिसकी प्रतियां अन्यों को भी प्रेषित की गई थीं। इसकी एक प्रति हमको भी प्राप्त हुई थी।

इस परिपत्र में आचार्य श्री ने उत्तर भारत में दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्रों की वर्तमान में दुर्व्यवस्था और कुप्रबन्ध पर घोर चिन्ता प्रकट करते हुए इसके लिए उनके असंयमी गृहस्थ प्रबन्धकों को जिम्मेदार ठहराया है जो—"क्षेत्र के रक्षक के रूप में भक्षक बने बैठे हैं, क्षेत्र की सम्पत्ति व आय को हड़प रहे हैं, उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। क्षेत्रों पर ईमानदार पुजारी व मैनेजर देखने को नहीं मिलते, क्षेत्रों की धर्मशालाएं लॉज का रूप ले रही हैं जहाँ हर प्रकार के पाप कर्म होने लगे हैं, क्षेत्रों पर विवाह-शादी सम्पन्न कराये जाने लगे हैं, हनीमून भी मनाये जाने लगे हैं। तीर्थों की मर्यादा, पवित्रता व शुद्धता समाप्त हो रही है तथा अतिशय घट रहे हैं। जैनागम में समाज में दिगम्बर साधुओं का तीर्थों पर रहकर आत्म-साधना करने की बात कही जाती है, पर साधु क्षेत्र पर रहे कैसे ? असंयमियों ने क्षेत्रों पर असंयम का इतना विस्तार कर रखा है कि संयमी को वहाँ भी आत्म-साधना करना मुश्किल हो गया है। क्षेत्रों पर साधुओं के ठहरने का कोई उचित स्थान नहीं है। यदि कहीं त्यागी-सन्त निवास का निर्माण किया भी गया है तो असंयमियों ने उस पर कब्जा जमा लिया है। यदि किसी साधु ने क्षेत्र पर रहना चाहा उसे उसके कटु अनुभव झेलने पड़े। क्षेत्रों पर साधुओं के आहार-पानी की भी समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती····।"

इन सभी समस्याओं के हल के लिए आचार्य श्री ने सुझाव दिया है कि "सभी जैन तीर्थों पर बाल ब्रह्मचारी, गृह त्यागी, व्रती, धर्मात्मा, विद्वान, मुनिभक्त, ईमानदार भट्टारकों की स्थापना होनी चाहिए ताकि तीर्थों पर साधु-संत शान्ति से ठहर कर अपनी आत्म-साधना कर सकें, तीर्थों का भी संरक्षण हो सके, पुरातन जिनालयों का जीर्णोद्धार हो सके तथा समाज व धर्म का भी विकास हो सके।"

आचार्य श्री ने जिस प्रकार के भट्टारक स्वामियों को तीर्थ क्षेत्रों पर स्थापित करने का सुझाव दिया है वे आएंगे कहां से, यह हमारी अल्प बुद्धि में नहीं आता। वैसे भी इतिहास साक्षी है कि मठाधीश हो जाने पर कोई भी साधु, साधु नहीं रह पाता।

उत्तर भारत के तीर्थ क्षेत्रों की वर्तमान स्थिति का यह आकलन आचार्य श्री के निजी अनुभव पर आधारित है। हमें भी उत्तरांचल दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के, स्थापना से ही, दीर्घ काल तक संयुक्त महामंत्री रहने के कारण उत्तर प्रदेश के प्रायः सभी तीर्थ क्षेत्रों का एकाधिक बार निरीक्षण करने तथा उनकी समस्याओं पर तत्कालीन पदाधिकारियों और प्रबंधकों से विचार-विनिमय का सुअवसर प्राप्त हुआ है। उत्तर भारत के तीर्थ क्षेत्रों की वर्तमान स्थिति के विषय में आचार्य श्री के आकलन से हम भी बहुत कुछ सहमत हैं। एक-दो तीर्थ क्षेत्रों को छोड़ कर अधिकांश तीर्थ क्षेत्रों की स्थिति न्यूनाधिक ऐसी ही है। इन तीर्थ क्षेत्रों के समुचित विकास के लिये, इनकी प्रबन्ध व्यवस्था में अपेक्षित सुधार लाने के लिए तथा इन्हें सही अर्थों में पवित्र धर्म-स्थल बनाये रखने के लिये क्या कारगर कदम उठाये जाने चाहियें, इस विषय पर हम अपने विचार विस्तार भय के कारण यहां नहीं प्रस्तुत कर रहे हैं, अपितु शीघ्र ही उन्हें एक स्वतन्त्र लेख में प्रस्तुत करेंगे। इस लेख में हम केवल इन क्षेत्रों पर भट्टारक पीठों की स्थापना के सुझाव की ही समीक्षा कर रहे हैं।

इस समय दक्षिण भारत में ही कतिपय दिगम्बर जैन भट्टारक पीठें विद्यमान हैं, उत्तर भारत में तो उनका लोप इस शती के

प्रारम्भिक काल में ही हो चुका था। आचार्य श्री दयासागर ने दक्षिण भारत के ही एक सिद्ध क्षेत्र से प्रसारित अपने इस परिपत्र में उत्तर भारत के तीर्थ क्षेत्रों पर भी भट्टारक पीठो की स्थापना की जोरदार वकालत करते हुए श्रवणबेलगोला के भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति स्वामी जी के आचरण, आचार-विचार को तो सर्वथा प्रशंसनीय बताया ही, हुमचा, कोल्हापुर, मूडबिद्री, वारंगल, धर्म-स्थल आदि क्षेत्रों के भट्टारकों ने तीर्थ के रक्षण आदि का जो कार्य किया है उसकी भी प्रशंसा की है। [यहाँ यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि धर्म-स्थल मूलत: एक शैव क्षेत्र है जिसके प्रमुख धर्माधिकारी (न कि भट्टारक) एक जैन बन्धु हैं।]

धर्म मंगल (मराठी पाक्षिक पत्रिका) के फरवरी १९९७ के भट्टारक सम्प्रदाय विशेषांक में भट्टारक सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव के विषय में विशद प्रकाश डाला गया है। इस पत्रिका की विदूषी सम्पादिका सौ० लीलावती जैन ने वर्तमान की प्राय: सभी भट्टारक पीठों की यात्रा करके कुछ के विषय में अपनी प्रतिक्रिया पत्रिका के दि० १६ मई, १९९७ के अंक में प्रकाशित की है जो इस सन्दर्भ में विशेष रूप से पठनीय है।

आचार्य श्री दयासागर जी ने अपने परिपत्र में अन्य भट्टारकों सहित हुमचा मठ के भट्टारक स्वामी जी के कार्य की भी प्रशंसा की है। इन भट्टारक स्वामी जी के संबंध में **धर्म मंगल** पत्रिका के उपरोक्त अंक के सम्पादकीय लेख के निम्नलिखित अंश का अवलोकन करें—

"कर्नाटक में हुमचा पद्मावती क्षेत्र अत्यन्त प्राचीन एवं प्रसिद्ध क्षेत्र माना जाता है।.........वर्तमान में जो देवेन्द्रकीर्ति जी भट्टारक हैं उनको लेकर कर्नाटक में कई विवाद के विषय अजैन अखबारों में सचित्र छाप दिये गये हैं जिससे उक्त स्वामी जी की प्रतिष्ठा, चरित्र, कार्य आदि पर प्रश्न-चिन्ह लग गए हैं।... **क्रांति-दीप** ने तो लगातार धारावाहिक पांच किश्तों में **हुमचा मठ के जैन स्वामी के काम कांड** शीर्षक से भरपूर लिखा जिससे कर्नाटक भर

जैन समाज में तहलका मच गया। ..... हाय बंगलौर, पट्टांग और क्रांतिदीप पत्रिकाओं ने स्वामी जी को ८–१० लड़कियों का भोगी, जीवन बरबाद करने वाला, कीचक जो पद्मासन डाल पद्मावती के मन्दिर में बैठा है, ऐसा कहा है .... वर्तमान स्वामी जी ने पद ग्रहण करते ही पुराने सब नौकरों, मैनेजरों, समिति के पदाधिकारी इत्यादि को निकाल कर उनकी जगह अधिकतर लड़कियों को रख दिया.......।"

आगे अपने लेख में सम्पादिका जी ने कुछ ऐसी युवतियों के विवरण दिये हैं जिनके साथ स्वामी जी के यौन सम्बन्धों की चर्चा रही है। वे यह भी लिखती हैं कि हुमचा गांव में जैनों के जो १०-१२ घर हैं वे मठ से दूर रहना ही पसन्द करते हैं।

जहाँ तक भट्टारक स्वामी जी के संरक्षण में क्षेत्र के रखरखाव व विकास आदि का प्रश्न है, सम्पादिका जी लिखती हैं—

"धर्मशाला में गन्दगी रहती है। गायें, कुत्ते, सुअर इत्यादि कमरे में घुस आते हैं.....पानी की मोटर, गर्म पानी का बायलर आदि सब टूटे पड़े हैं, कमरों में पंखे भी नहीं हैं। इतनी अस्वच्छ धर्मशाला, तिस पर भी कमरे का किराया रु० ४०/- प्रतिदिन है। कुन्दादि पर्वत पर पिछले भट्टारक जी द्वारा निर्मित कराई गई धर्मशाला एवं क्षेत्र की अन्य इमारतें जर्जर हो रही हैं, उनका जीर्णोद्धार नहीं कराया जा रहा है। मठ की भूमि, धन-सम्पत्ति के सम्बन्ध में गम्भीर घोटाले प्रकाश में आए हैं। मठ द्वारा संचालित १०० छात्रों वाले छात्रावास में ९-१० बच्चे भी नहीं हैं। मठ के भूतपूर्व मैनेजर के कथनानुसार वर्तमान स्वामी जी ने ग्रन्थालय, विद्यापीठ आदि सब बन्द कर दिये हैं। स्वामी जी विद्वान हैं, सन् १९७२ में उनकी भट्टारक दीक्षा हुई थी।अब तक २० बार विदेश (धर्म प्रचार के लिए) हो आये हैं। अब फिर जाने की तैयारी है।"

यह है एक प्रौढ़, सुशिक्षित (बी.एस-सी. पास), विद्वान (९-१० ग्रन्थों के रचयिता), भट्टारक स्वामी जी द्वारा संरक्षित एक सुप्रसिद्ध प्राचीन क्षेत्र के रखरखाव, जीर्णोद्धार एवं विकास की स्थिति तथा ब्रह्मचर्य व्रतधारी स्वामी जी के चरित्र की झांकी !

कर्नाटक प्रदेश का एक दूसरा सुप्रसिद्ध क्षेत्र मूडबिद्री है जिसकी भट्टारक पीठ को दिगम्बर जैन आम्नाय के प्राचीनतम सिद्धांत ग्रन्थ **षट्खंडागम** की प्राचीन कन्नड लिपि में ताडपत्रों पर उत्कीर्ण एक मात्र प्रति को सुरक्षित रखे रखने का श्रेय प्राप्त है। सम्पादिका जी ने मूडबिद्री क्षेत्र की भी यात्रा की। यहां के भट्टारक स्वामी जी (जो हाल ही में दिवंगत हो गये हैं) के विषय में वे अपने उक्त सम्पादकीय लेख में लिखती हैं—

"भट्टारक स्वामी जी का एक भाई मठ में मैनेजर है, एक डाक्टर है। सिद्धान्त ग्रन्थों-शास्त्रों की सुरक्षा हेतु आगम मन्दिर के निर्माण के लिए वृहत योजनायें तो घोषित की जाती रही हैं तथा यात्रियों से इस हेतु प्राप्त दान राशि भी डेढ़-दो करोड़ हो गई है पर अब तक कोई भवन नहीं बना। कर्नाटक में जैन मठों के आय-व्यय शासन के नियन्त्रण से मुक्त हैं। अतः मठों में बे-हिसाब काम चलता है। न शासन, न लोग, इन राशियों का हिसाब पूछ सकते हैं। **कई प्राचीन मूर्तियां, ग्रंथ व सोने-चांदी के भारी उपकरण नदारद हो गये हैं**, ऐसा सुनने में आया है। प्राचीन ग्रन्थों की संपदा यहां अलमारियों में बन्द है। कोई ज्ञान-पिपासु उन्हें बाहर से देख कर अपनी भूख मिटा सके तो मिटा ले। तिस पर भी इसे रिसर्च सैन्टर कहा जाता है। कोई विद्वान यहाँ नहीं टिकता।"

सम्पादिका जी ने दो दिन मठ में घण्टों प्रतीक्षा कर भट्टारक स्वामी जी से भेंट करने का प्रयास किया पर भट्टारक जी ने इन्हें अपने दर्शनों से कृतार्थ नहीं किया (कदाचित् उनके एक पत्रकार तथा शिथिलाचार के प्रखर आलोचक होने के कारण?)। इस पर क्षुब्ध होकर सम्पादिका जी लिखती हैं—

"कुछ शैव मठों के दर्शन किये। उनके मठाधीश के निवास में दरवाजे नहीं होते, सभी को दर्शन सुलभ रहते हैं, पर मूड़बिद्री के मठाधीश के यहां ऐसा नहीं है। पू० आ० श्री विद्यासागर जी के एक ब्रह्मचारी शिष्य कुछ ग्रन्थों के अध्ययन के हेतु आए थे। सामने किसी को न पा कर वे सहज भाव से भट्टारक जी के कमरे में पहुंच गये

और बिना इजाजत घुसने के अक्षम्य अपराध के लिए उन्हें वहाँ से **धक्के** मार कर बाहर निकाल दिया गया। (कदाचित् उन्होंने भट्टारक जी को नसवार सूंघते देख लिया था।)"

दक्षिण भारत की अन्य भट्टारक पीठों की स्थिति भी न्यूनाधिक ऐसी ही है। हां, श्रवणबेलगोला के मठाधीश भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति स्वामी जी के सम्बन्ध में कोई अपवाद सुनने में नहीं आया। पर भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव व उसकी वर्तमान में उपादेयता आदि के विषय में उनके निम्नलिखित विचार अवलोकनीय हैं जो उन्होंने दि० २१ अप्रैल, १९९७, को **तीर्थंकर** मासिक के सम्पादक डा० नेमीचन्द जी को दिये साक्षात्कार में व्यक्त किये थे—

"१२ वीं शताब्दी से लेकर १९ वीं शताब्दी तक के बीच का समय बहुत अंधकार का समय था। इसी समय मुनि परम्परा लुप्त हो गई और भट्टारक परम्परा उदित हुई। यह समय की देन थी जिसे समाज ने मान्य किया।······भट्टारक परम्परा के आविर्भाव काल में मुनियों ने ही वस्त्र धारण किये थे। भट्टारक कोई ऊपर से टपके नहीं थे।···उस लम्बे अंधकार युग में भट्टारकों ने काम किया। किसी भी तरह के एक संरक्षण की जनता को जरूरत थी, वह उनके द्वारा संभव हुआ।······आज यहां प्राचीन मन्दिर हैं, प्राचीन शास्त्र हैं और भट्टारक परम्परा उनका संरक्षण कर रही है। **आचार्य शान्ति सागर महाराज ने दिगम्बर मुनि परम्परा को पुनुरुज्जीवित किया अर्थात् ऐसा होते ही वस्त्रधारी भट्टारकों की आवश्यकता नहीं रही** क्योंकि भट्टारक संस्था एक बीच की कड़ी थी। **मैंने आचार्य वर्द्धमान सागर जी** (आ० शांति सागर म० की परम्परा के पट्टाचार्य) **से कहा कि वर्तमान भट्टारक परम्परा के भट्टारक आप हैं।** इसीलिए यदि किसी वजह से भट्टारकों की परम्परा आगे नहीं बढ़ी तो इसके संरक्षण की जिम्मेदारी आपकी है। अब यह आपका अधिकार है। **भट्टारकों की परम्परा अब खत्म हो चुकी है।** भगवान महावीर भी भट्टारक कहलाते थे।······कर्नाटक में भट्टारकों की आवश्यकता इसलिए है कि वहां अन्य सम्प्रदायों के मठाधीश भी हैं। **अन्य राज्यों**

में भट्टारकों की जरूरत नहीं है······आज सभी क्षेत्र अपने आप संचालित हैं······जितनी भी भट्टारक नसियाएं थीं, उन्हें समाज संगठित होकर चला रही है।······वर्तमान में जो दिगम्बर जैन मुनि परम्परा है वह सजग है, समाज के साथ है तथा पंच कल्याणक, मूर्ति प्रतिष्ठा इत्यादि में उनका सानिध्य उसको प्राप्त है। पहले यह काम भट्टारक करते थे। **आज मन्त्र-तन्त्र सब मुनि देते हैं।**······

वर्तमान में तमिलनाडु में सिर्फ एक मठ है······जिसकी परिस्थिति भी अच्छी नहीं है।······केरल की सीमा पर एक मठ था—देवकीर्ति जी का। वह अब लुप्त हो चुका है। आंध्र में कभी एक मठ कुलपाक में था जिसका उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। महाराष्ट्र में दो मठ हैं—एक कोल्हापुर में तथा दूसरा नांदनी में। एक तीसरा ललितापुर और लातूर के विशालकीर्ति जी का मठ था पर उनके देहान्त के बाद अब वह नहीं रहा।"

ये तो रहे भट्टारक परम्परा की वर्तमान में उपादेयता तथा उसे आगे भी चलाते रहने के विषय में भट्टारकों में सर्वाधिक जागरुक श्रवणबेलगोला के मठाधीश स्वस्ति श्री चारुकीर्ति स्वामी जी के विचार। अब जरा उस जानकारी का भी अवलोकन कर लें जो पू० मुनिराज श्री सरल सागर जी ने भट्टारक परम्परा के विषय में अपनी बहुचर्चित कृति **आचार्य समीक्षा** में कराई है। मुनि श्री लिखते हैं कि—

"भट्टारक वीतरागियों का विशेषण है। भगवान महावीर स्वामी के लिये भी 'भट्टारक' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। किन्तु वर्तमान में यह विशेषण मठाधीशों के लिये रूढ़ हो गया है और **इस अंध परम्परा के बनाए रखने का श्रेय दक्षिण के कुछ आचार्यों को है और हो सकता है आगे भी इसके चलते रहने में वे ही सहायक हों, कारण हों।** यह (भट्टारक परम्परा) तो स्पष्ट रूप से पिच्छी-कमण्डल धारियों का अनादर है, क्योंकि यह तो निरन्तर भ्रमण करने वाले साधुओं की पहचान है, उन्हीं के हाथों में शोभा देते हैं। ·········**भट्टारक पिच्छी-कमण्डल के योग्य न होते हुए भी** पिच्छी-

कमण्डल के बल पर **अपने आपको मुनियों से छोटे और ऐलक छुल्लक आदि से बड़े मानते हैं। भट्टारकों में अधिकांश मिथ्यात्व के पोषक, प्रबल समर्थक एवं प्रचारक हैं।.........सरागी देव-देवियों की उपासना के प्रबल समर्थक हैं।**......घर-घर में उनकी स्थापना करवा रहे हैं।.........भक्तों को कह रखा है कि यदि कोई मुनि पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि की पूजा को मिथ्यात्व कहे, मिथ्यात्व छोड़ने का उपदेश दे तो उन्हें आहार तो दो, उपदेश सुनने मत जाओ।......... उन्हें ऐसे ही आचार्यों ने बनाया है जो इन सरागी देवों की उपासना में विश्वास रखते हैं।.........सुना जाता है **भट्टारक तीन बार तो भोजन करते ही हैं, रात्रि में भी लेते हैं, पूरे ऐशो आराम से जिन्दगी जीते हैं।"**

भट्टारक परम्परा मध्य युग की विषम परिस्थितियों की देन है जब राजनीतिक अस्थिरता, अराजकता तथा विदेशी मुस्लिम शासकों की धार्मिक असहिष्णुता के चलते दिगम्बर मुनियों का विहार संभव नहीं रह गया तथा उन्हें सवस्त्र स्थिरावास अपनाना पड़ा। पू० आचार्य कनक नन्दि जी के शब्दों में—

"आगम में कहा है कि साधु यदि एक स्थान पर अधिक निवास करेंगे तो वे सुखाभिलाषी, प्रमादी, निवास स्थान तथा वहां पर रहने वालों, सेवा करने वालों, आहार देने वालों के प्रति रागी हो जाते हैं, भिक्षा प्राप्त करने के लिये उन्हें अधिक श्रम नहीं करना पडता।"

[अब तो अनेक मुनि संघों में चौके की स्थायी व्यवस्था साथ में रहने लगी है, उनमें भिक्षा प्राप्ति के लिये किसी श्रम का प्रश्न ही नहीं उठता।]

आगमों में साधुओं के लिए चातुर्मास काल को छोड़कर निरन्तर विहार करते रहने का ही उपदेश है। जब एक स्थान में अधिक समय रुकने से श्रमण में उपर्युल्लिखित विकार उत्पन्न होने की संभावना हो जाती है तो पूर्ण स्थिरावास में श्रमणाचार में अनेक विकृतियों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। अल्प काल में

ही इन स्थिरावासी जैन श्रमणों ने अपनी स्थायी पीठें-गद्दियें स्थापित कर लीं तथा क्षेत्र, मन्दिर की सम्पत्ति की देखभाल, रखरखाव का दायित्व तो सम्हाला ही, उसका उपभोग भी करने लगे और वस्तुत: उसके स्वामी बन गये। गृहस्थों के लिए धर्माचार्य तो बने रहे ही। समाज में धर्म के प्रति रुचि जाग्रत करने के लिए उन्होंने नए बड़े-बड़े पूजा-विधान रचे, उनमें आडम्बर का समावेश कर धार्मिक क्रियाओं को लोक रंजक स्वरूप प्रदान किया, मंत्र-तंत्र के प्रचार से श्रावकों में अपना प्रभाव बढ़ाया। पंच-कल्याणक प्रतिष्ठाओं का बहु आडम्बर एवं वैभव पूर्ण वर्तमान स्वरूप भट्टारक स्वामियों की ही देन हैं।

कतिपय मध्य युगीन बहु श्रुत भट्टारकों ने जिनवाणी माता की अभूतपूर्व सेवा भी की तथा पुराण, कथा, स्तोत्र, पूजा, मंत्र-तंत्र साहित्य को समृद्ध करने में उनका विशिष्ट योगदान रहा। 'शुद्ध चारित्र के धारक', 'योगी', 'निर्ग्रन्थराज', 'महाकवि' आदि विशेषणों से स्मरण किये जाने वाले तथा लगभग ७५००० श्लोक प्रमाण ४४-४५ ग्रन्थों के रचनाकार १५ वीं शताब्दी के ईडर पीठाधीश भट्टारक श्री सकलकीर्ति जी पर एक परिचयात्मक लेख भी हमने **शोधादर्श-३३** (पृष्ठ २०५-२०७) में प्रकाशित किया है। महान् आगम ग्रन्थ **षट्खण्डागम** को संरक्षित रखे रहने के लिये मूडबिद्री के भट्टारकों के महान उपकार को दिगम्बर जैन समाज कभी विस्मृत नहीं कर सकता। वर्तमान काल में कुछ भट्टारक स्वामियों ने विदेशों में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में अच्छा योगदान किया है।

इतना सब कुछ होते हुए भी जैनेतर मठाधीश महन्तों की भांति उनकी चर्या एवं जीवन शैली में जो विकृतियां पनप गई हैं उनका कुछ उल्लेख हमने ऊपर किया है। वस्तुत: दिगम्बर जैन भट्टारक परम्परा आज की परिस्थितियों में अप्रासंगिक हो गई है तथा उत्तर भारत में भट्टारक पीठों की पुन: स्थापना करके इसका प्रसार करना अव्यवहारिक होगा। हमें नहीं लगता कि यहां की समाज इस प्रकार के किसी प्रयास का स्वागत करेगी। श्रवणबेल-

गोला के भट्टारक स्वामी जी का भी यही सुविचारित मत है जिसे ऊपर दे चुके हैं। उन्होंने तो अभी हाल ही में दिवंगत हुए मूडबिद्री के भट्टारक स्वामी जी की पीठ का दायित्व भी स्वयं ही ग्रहण कर एक अति प्राचीन एवं महत्वपूर्ण पीठ के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दक्षिण भारत में भी भट्टारक परम्परा समाप्त करने की दिशा में पहल कर दी है। अभी कुछ वर्ष पूर्व उत्तर भारत के सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र हस्तिनापुर में आर्यिका-रत्न श्री ज्ञानमती जी ने अपनी प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन में निर्मित जम्बूद्वीप परिसर में भट्टारक पीठ स्थापित करने का विचार किया था, किन्तु क्षेत्र कमेटी एवं निकटवर्ती समाज के प्रबल विरोधी तेवर देख कर उन्होंने अपने शिष्य क्षुल्लक श्री मोती सागर जी को औपचारिक रूप से भट्टारक पद से अलंकृत नहीं किया तथापि उन्होंने क्षुल्लक जी को "स्वस्ति श्री पीठाधीश" के नाम से सम्बोधित कराना तो प्रारम्भ कर ही दिया।

हमें आचार्य श्री दयासागर जी के परिपत्र में यह पढ़ कर किंचित विस्मय हुआ कि आचार्य श्री को इस बात का क्षोभ है कि वर्तमान में उत्तर भारत के तीर्थ क्षेत्रों पर दिगम्बर मुनियों के ठहरने की समुचित व्यवस्था तो सामान्यतया है ही नहीं, उनके आहार-पानी की भी यथोचित व्यवस्था नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में दिगम्बर जैन साधु तीर्थ क्षेत्रों पर कैसे आत्म-साधना करें?

यह कुछ विरोधाभास-सा ही लगता है कि जो भव्य जीव संसार से विरक्त होकर गृहस्थाश्रम की सभी सुख-सुविधाओं का स्वेच्छा से त्याग कर आत्म-साधना हेतु दिगम्बर जैन मुनि दीक्षा ग्रहण करके संयम का कठोरतम मार्ग अपनाते हैं, उन्हें भी आत्म-साधना के लिए सुविधाओं की अपेक्षा रहे।

हमारे तीर्थ क्षेत्रों पर आज जो सुविधायें एवं व्यवस्था उपलब्ध है, ५०-६० वर्ष पूर्व उतनी भी नहीं थी फिर भी सहस्रों-सहस्रों वर्षों से न केवल संयमी-त्यागी गण वरन् धर्मनिष्ठ श्रावकों के विशाल संघ भी मार्ग के अनेक कष्टों व खतरों का सामना करने के उपरान्त

तीर्थ क्षेत्र के दर्शन का पुण्य लाभ प्राप्त कर असीम आनन्द का अनुभव करते रहे हैं तथा क्षेत्र के धर्ममय शान्त वातावरण में विशेष धर्म-साधन भी करते रहे हैं। हमें एकाधिक बार स्व० आ० श्री शान्ति सागर जी (हस्तिनापुर वाले) का तीर्थ क्षेत्रों पर दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अहिच्छत्र-पार्श्वनाथ क्षेत्र पर आचार्य श्री आहार के अतिरिक्त अपना प्रायः सारा समय रामनगर किले के प्राचीन निर्जन खण्डहरों में ही ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हुए ही बिताते थे तथा हस्तिनापुर में मन्दिर संकुल से दूर जंगल के बीच स्थित नसिया जी (चरण-चिन्ह छतरी) के एकान्त वातावरण में ही रहना पसन्द करते थे। पू० आ० श्री विद्यासागर जी भी ऐसे ही एक निर्जन एकान्त वास प्रेमी मुनिवर हैं जो चातुर्मास स्थापना भी अधिकतर निर्जन पर्वतीय तीर्थ क्षेत्रों पर ही करते रहे हैं।

जहां तक तीर्थ क्षेत्रों पर साधुओं के आहार-पानी की व्यवस्था का प्रश्न है, हमारी समझ में यदि स्थानक वासी साधुओं की तरह दिगम्बर मुनि भी गृहस्थों द्वारा अपने लिये सामान्य रूप से तैयार किये गए भोजन को ग्रहण करने लगें तथा उनके लिए अलग से शुद्ध व्यवस्था का आयोजन न करना पड़े तो कदाचित् ही कोई ऐसा तीर्थ यात्री होगा जो आहार दान का पुण्य लाभ न अर्जित करना चाहे। छोड़-छुड़ाव, त्याग, शुद्धाशुद्ध विचार आदि से आहार दाताओं का दायरा तो संकुचित होता ही है। वैसे आ० श्री दयासागर जी को तथा उनके जैसे ही अन्य मुनि संघों को जो अपने साथ ही चौके की स्थायी व्यवस्था रखते हैं, तीर्थ क्षेत्रों पर आहार-पानी की मन-पसन्द व्यवस्था उपलब्ध होने या न होने से, अन्तर ही क्या पड़ता है ? हां, यदि तीर्थ क्षेत्र पर समुचित 'सन्त निवास' उपलब्ध न होने के कारण किन्हीं महाव्रती साधुओं को अपनी आत्म-साधना में कठिनाई होती हो, तो ऐसे सुखाभिलाषी साधकों के लिये तो श्रेयस्कर यही था कि वे अपने सर्व सुविधायुक्त गृहस्थाश्रम में स्वजनों की स्नेह-छाया में रहते हुए ही आत्म-साधना करते रहते।

(शेष पृष्ठ २६ पर)

JAINISM

[The Jain community was very much agitated over the chapter on Jainism included in ANCIENT INDIA, a History Textbook for class XI of the Central Board of Secondary Education, published by the National Council of Educational Research and Training, New Delhi. The book was first published in 1977, but strangely it became a subject for agitation by the Jains of Delhi 18 years later in 1995. Whoever seems to have inspired the agitation, however, did not take it seriously as it was a lack-lustre academic matter.

The book is authored by Prof. Ram Sharan Sharma, a competent authority on the history of ancient India. Prof. Sharma is known for objective presentation, balanced view and logical interpretation of historical data, eschewing the irrational and mythical.

I got a copy of the current 3rd Reprint of 1990 Edition (January 1993) of the book, went through the portion on Jainism in Chapter 10, appearing on pp. 72-76 therein, and finding that the text did have incongruities, recast it in keeping with the tenor of the book. The recast write-up was sent to the NCERT in February 1996. Prof. Arjun Dev, Head of the Department of Education in Social Sciences & Humanities, NCERT, who was also associated with the production of the book, kindly passed on my letter and write-up to Prof. Sharma. I had written to Prof. Sharma :

(पृष्ठ २५ का शेष)

हमारे लिखने का यह तात्पर्य नहीं है कि तीर्थ क्षेत्रों की पवित्रता तथा धार्मिकता को बनाये रखने के लिये तथा वहां पर साधु-सन्तों के निवास व आहार-पानी की समुचित व्यवस्था उपलब्ध कराने के लिए सभी सम्भव प्रयास न किये जायें। ऐसे प्रयास करना क्षेत्र कमेटी तथा समाज का प्रमुख कर्त्तव्य है। किन्तु आत्म-साधना के लिये समर्पित अपरिग्रह महाव्रतधारी किन्हीं साधकों के द्वारा भी सुविधाओं की अपेक्षा किया जाना कुछ विरोधाभास-सा लगता है।

—अजित प्रसाद जैन

"It has been brought to my notice that the chapter on Jainism in the revised edition of **Ancient India** (A History Textbook for Class XI) is not in good taste. Some representation was also sent by a section of the community to NCERT and they were advised to send an authentic piece.

I got a copy of the Third Reprint Edition, January 1993, and went through Chapter 10........... With due apologies, I have taken the liberty to recast the matter appearing on pp. 72 to 76 and given the relevant source material. A copy is enclosed for your perusal and getting it included in the next edition.

I have taken care to delete the controversial so that it does not offend either the Digambaras or the Shvetambaras. The legends about Chandragupta Maurya and the famine are not corroborated by other traditions; the Jain literary tradition is also very late and not quite authentic.

As for the date of Mahavira, the Jain tradition consistently places his demise in 527 B. C. in relation to the Vikrama Era of 57 B.C. and Saka Era of 78 A.D. The older Buddhist tradition of Sri Lanka and Myammar places the demise of Buddha also in 544 B.C. and I am inclined to accept it because it fits in well with the chronological build up. Dr. Radha Kumud Mookerji also upheld it. Geiger based his hypothesis on a much later Chinese tradition based in Canton, and is not relevant now in view of the further researches in the meantime. For the date of Mahavira, a reference to Chapter II in Dr. J. P. Jain's **The Jaina Sources of the History of Ancient India** would be relevant. For the dates

of both Mahavira and Buddha and the chronology of 6th-4th centuries B.C. a reference may be made to Chapter III and f. n. 6, 36 and 40 therein, of my **Political and Cultural History of Mid-North India,** and for Kharavela, my other book may be referred. As for the date of schism, Dr. H. L. Jain's book (chapter 1) is relevant."

Prof. Sharma was quick to respond and wrote to me :

"It has been nice of you to have taken pains to rewrite the matter appearing on pp. 72-76 of **Ancient India.** I very much hope to mention your views in a book I have planned for advanced students. It is not advisable to discuss the controversy regarding chronology or schism in an elementary survey meant for 16-year old students. Even then I have added the alternative traditional date (527 BC) favoured by you in the copy revised for reprint. As regards the tradition concerning the famine, I have added that this tradition is considered to be late and doubtful. However, the famine tradition appears in most standard publications including **The Cambridge History of India,** I, K.A. Nilakanta Sastri's **History of India, Part 1–Ancient India** and R. S. Tripathi's **Ancient India.** H. C. Raichaudhari also refers to the 'great famine' tradition in his **Political History of Ancient India,** and seems to support the presence of Chandragupta and Bhadrabahu in Mysore on the basis of the inscriptional evidence of about AD 900. Because of this scholarly consensus I have retained the reference to the famine tradition. I must make it perfectly clear that it is not my intention to hurt the religious feelings of any Jain, irrespective of his or her sect. I therefore refer to the tradition and do not give my views regarding the schism.

Since you are deeply interested in the problem of chronology, I would like to draw your attention to its complexities. Apart from reconciling the different Jain traditions, the exercise involves the resolution of differences between the Jain and Buddhist traditions. There is also the question of settling the dates of the political contemporaries of Mahavira and Buddha, for which the Jain, Buddhist, Brahmanical (particularly Puranic), Iranian, Greek and other sources are used. Above all, we have to reckon with archaeology which has a very important bearing on the history of settlements. In view of the archaeological evidence it has become difficult to place either Vardhamana Mahavira or Gautama Buddha securely in the sixth century BC. Taken together they visited or are associated with many settlements such as Champa, Rajgir, Vaishali, Bodh Gaya, Varanasi, Kapilvastu, Sravasti and Kaushambhi. None of these settlements seem to be earlier than 500 BC. The calibrated radiocarbon dates for the early Northern Black Polished Ware remains at Ayodhya belong to 400 BC, at Kapilvastu (Piprahwa) to 391 BC, at Kaushambi to 406 BC, at Rajghat to 400 BC, and at Manjhi in Saran district to 400 BC. Even if we add 100 years to this remarkably consistent date of about 400 BC it is difficult to think of the emergence of worthwhile settlements in the field of the activities of the two great personalities before 500 BC. Although these dates do not occur in Heinz Bechert, ed., **When did the Buddha live ?**, Sri Satguru Publications, Delhi, 1995, this book gives an idea of the latest research that is relevant to the debate on the dates of both

Gautama Buddha and Vardhamana Mahavira"

The write-up sent by me, follows. —**Dr. Shashi Kant]**

Numerous religious sects emerged in the middle Gangetic plains in the sixth century B.C. We learn of as many as 63 such sects. Many of them were based on regional customs and rituals practised by different peoples living in north-east India. Of these sects Jainism and Buddhism were the most important, and they emerged as the most potent reform movements.

Causes of Emergence

In post-Vedic times the society was clearly divided into four varnas : brahmanas, kshatriyas, vaishyas and shudras. Each varna was assigned well-defined functions. It was emphasised that varna was based on birth and the two higher varnas were given some privileges. The brahmanas, who were given the functions of priests and teachers, claimed the highest status in society. They demanded several privileges, including those of receiving gifts and of exemption from taxation and punishment. In the post-Vedic texts we notice many instances of such privileges being enjoyed by them. The kshatriyas ranked second in the varna heirarchy. They fought wars, managed government, and lived on the taxes collected from peasants and traders. The vaishyas engaged themselves in agriculture, cattle-raising and trade. They appear to have been the principal tax-payers. Along with the two higher varnas they were placed in the category of **dvija** or the twice-born. A **dvija** was entitled to wear the sacred thread and study the Vedas, which the shudras were

not allowed. The shudras were meant for serving the three higher varnas. They appear as domestic servants, agricultural labour, craftsmen and hired labourers, and are called cruel, greedy and thieving in habits, in the post-Vedic texts. Some of them were treated as untouchables, also. The women in general were not allowed to wear the sacred thread and study the Vedas. Slavery was also practised. The higher the varna of a person, the more privileged and purer he was. The lower the varna of an offender, the more severe was the punishment prescribed for him.

Naturally the varna-divided society seems to have generated tensions. We do not know about the reaction of the vaishyas and shudras. But the kshatriyas, who functioned as rulers, reacted strongly against the social domination of the brahmanas, and seem to have led a kind of protest movement against the importance attached to birth in the varna system. The kshatriya reaction against the domination of the priestly class called brahmanas, who claimed various privileges, was one of the causes of the emergence of new religions. Vardhamana Mahavira, who expounded Jainism, and Gautama Buddha, who founded Buddhism, belonged to the kshatriya varna, and both of them disputed the authority of the brahmanas.

The immediate cause of the emergence of these religions lay, however, in the introduction of a new agricultural economy in north-east India. North-east India, including the regions of eastern Uttar Pradesh and northern and southern Bihar, has about 100 cm of rainfall. Before these areas came to be inhabited on a large scale, they were thickly

forested. The thick jungles could not be cleared without the aid of iron axes. Although some people lived in this area before 600 B.C., but they used implements of stone and copper and led a precarious life on river banks and confluences where land was open to settlement through the process of erosion and flooding. Large scale habitation began in the middle Gangetic plains in about 600 B C., when iron came to be used in this area. On account of the moist nature of the soil in this area, many tools of early times have not survived and only a few axes have been recovered from the strata belonging to **circa** 600–500 B.C. The use of iron tools made clearance of forests, cultivation of agriculture and growth of large settlements, possible. The agricultural economy based on the iron ploughshare required the use of bullocks, and it could not flourish without animal husbandry. But the Vedic practice of killing cattle indiscriminately in sacrifices stood in the way of the progress of agriculture. The cattle wealth was slowly decimating because the cows and bullocks were killed in numerous Vedic sacrifices. The tribal people living on the southern and eastern fringes of Magadha also killed cattle for food. If the new agrarian economy had to be stable, this killing had to be stopped.

The period saw the growth of a large number of cities in north-east India. We may refer, for example, to Kaushambi (near Allahabad), Kusinagar (in Deoria district) and Varanasi (Kasi) in Uttar Pradesh and Vaishali (in north Bihar), Chirand (in Saran district) and Rajgir (in Nalanda district, some 100 km south-east of Patna) in Bihar. Besides

other people, these cities had many artisans and tradesmen who began to use coins. The earliest coins belong to the sixth century B.C., and they are called punch-marked coins. They circulated for the first time in eastern Uttar Pradesh and Bihar. The use of coins naturally facilitated trade and commerce, which added to the importance of the vaishyas. In the brahmanical system the vaishyas ranked third in the social heirarchy, the first two being the brahmanas and kshatriyas. Naturally they looked for some religious system which would improve their social position.

The vaishyas extended generous support to both Mahavira and Gautama Buddha. The merchants, called the **setthis**, made handsome gifts to Gautama Buddha and his disciples. There were several reasons for it. First, Jainism and Buddhism in the initial stage did not attach importance to the existing varna system. Second, they preached the gospel of non-violence, which would put an end to wars between different kingdoms and consequently promote trade and commerce. Third, the brahmanical law books, called the Dharmasutras, decried lending money on interest. A person who lived on interest was condemned by them. Therefore, the vaishyas who lent money on account of growing trade and commerce, were not held in high esteem and were eager to improve their social status.

We also notice a strong reaction against various forms of private property. Old-fashioned people did not like the use and accumulation of coins made commonly of copper and silver, and possibly also of gold. They detested new dwellings

and dresses and new systems of transport which amounted to luxury, and they also hated war and violence. The new forms of property created social inequalities on economic basis and caused misery and suffering to the majority of people who could not possess it. So the common people yearned to return to primitive life. They wanted to get back to the ascetic ideal which dispensed with the new forms of property and the new style of life. Both Jainism and Buddhism preferred simple, puritan ascetic living. The Buddhist and Jain monks were asked to forego the good things of life. They were not allowed to touch gold and silver. They were to accept only as much from their patrons as was sufficient to keep the body and soul together. The people in general rebelled against the material advantages stemming from the new style of life in the Gangetic basin. We find the same kind of reaction against the changes in material life in north-east India in the sixth century B.C. as we notice against the changes introduced by the Industrial Revolution in modern times. The advent of the Industrial Revolution made many people think of return to the pre-machine age life, similarly people in the sixth century B.C. in north-east India wanted to return to the pre-iron age life.

Vardhamana Mahavira and Jainism

The Jains believe that their most important religious teacher Mahavira had twenty-three spiritual predecessors who were called **tirthankaras**. If Mahavira is taken as the last of the twenty-four **tirthankaras**, the origin of Jainism would be taken back to a hoary past. But since most of the early teachers

are supposed to have been born in eastern Uttar Pradesh and Bihar, their historicity cannot be ascertained. No part of the middle Ganga plains seems to have been settled on any scale prior to the sixth century B.C. The mythology of the **tirthankaras**, most of whom were born in the middle Ganga basin and attained **nirvarna** in Bihar, seems to have been created to give antiquity to Jainism. Parshvanatha, the twenty-third **tirthankara**, lived 250 years before Mahavira, in the ninth century B.C., and appears to have been a historical person. He belonged to Varanasi, left home at the age of 30 years and preached as an ascetic for 70 years. He travelled from Ahichchhatra (in Bareilly district, Uttar Pradesh) to Sammeda-shikharji (Parasnath Hills in Giridih district, Bihar) where he attained **nirvana** in 777 B.C. His disciples are known to have had disputations with the disciples of Mahavira. His spiritual successor, the twenty-fourth **tirthankara**, Vardhamana Mahavira expounded Jainism as we know it today.

Vardhamana Mahavira was born in 599 B.C. in Kundagrama near Vaishali in north Bihar. His father Siddhartha was the head of a kshatriya clan and his mother Trishala was a Lichchhavi princess from Vaishali. Through his mother he was connected with the royal families of Anga, Magadha and Vatsa. High connections made it easy for him to approach princes and nobles in the course of his mission.

Mahavira left home in search for truth at the age of 30 years and became an ascetic. He kept on wandering for 12 years from place to place. He would not stay for more than a day in a village and

for more than five days in a town. He attaine omniscience **(kaivalya)** at the age of 42 year Through **kaivalya** he conquered misery and happ ness. Because of this conquest he is known as Mahɛ vira or the great hero and **jina, i.e.**, the conqueroɪ and his followers are known as Jains. He propagate(his religion for 30 years, and his mission took hin to Koshala, Kashi, Vatsa, Magadha, Anga, Mithila Vajjis and Mallas. He attained **nirvana** (final delive rance from the cycle of birth and death) at the age of 72 years in 527 B.C. at Pava in the early morning of Dipavali.

Doctrines of Jainism

The Jains do not believe in a creator, preserver and destroyer God. The universe is eternal and it has neither a beginning nor an end. Six cardinal substances fill the universe. They are **jiva** (conscious soul), **ajiva** (non-conscious matter), **akasha** (space), **kala** (time), **dharma** (principle of motion) and **adharma** (principle of rest). The inter-play of these substances constitutes the universe. When the soul has detached itself from matter, it is all consciousness in eternal bliss.

Mahavira prescribed five vows for his followers : (i) do not commit violence **(ahimsa)**, (ii) do not speak a lie **(amrisha)**, (iii) do not steal (**achaurya**), (iv) do not accumulate wealth (**aparigraha**), and (v) do not indulge in sensual pleasures (**brahmacharya**). These vows are to be observed in degrees by the lay followers but they should be observed in absolute terms by the monks and nuns. Parshvanatha had insisted only on the first four vows and the fifth was added by Mahavira.

Some six hundred years after Mahavira his followers were divided into two sects : the **digambaras** whose monks remain nude and the **shvetambaras** whose monks put on white dress.

The object of reverence in Jainism is the **jina** or **tirthankara**. A number of gods and goddesses also came to be worshipped in course of time but they have always been given a lower status in relation to the **jina**. Heaven is promised as a reward for virtuous living, hell is the penalty for sinful living, and transmigration of soul ceases only when the soul has attained final deliverance from the cycle of birth and death.

Jainism did not condemn the varna system, as Buddhism did. According to Mahavira, a person is born in a higher or a lower varna in consequence of the sins committed or the virtues acquired in the previous birth. Mahavira looks for human values even in a chandala, the lowliest of the lowly in the varna-based social system. In his opinion, members of the lower castes can also attain liberation through pure and meritorious life. Jainism mainly aims at the attainment of freedom from worldly bonds. No ritual is required for attaining such liberation. The path to liberation (**moksha**) lies in the trinity (**triratna** or Three Jewels) of right faith, right knowledge and right conduct.

Jainism advocated temperance and consideration of the other point of view through its doctrine of **anekanta**. It did not support the practice of war. **Ahimsa** laid emphasis on non-killing of living beings. Eventually the Jains mainly confined themselves to trade and mercantile activities which did not involve killing of living beings.

Spread of Jainism

In order to spread his teachings, Mahavira organized a four-fold order of his followers which admitted both men and women. It is said that his followers counted 5,31,711. Of them, 54,711 were ascetics and the remainder were laity. Since Jainism did not clearly mark itself out from the brahmanical social system, it failed to attract the masses. Despite this Jainism gradually spread into south and west India. Epigraphic evidence for the spread of Jainism in Karnataka is not earlier than the third century A.D. In subsequent centuries, especially after the fifth century, numerous Jain monastic establishments called **basadi** sprang up there and were granted land by kings for their support.

Jainism spread to Kalinga in Orissa in the fourth century B.C. and in the second century B.C. it enjoyed the patronage of King Kharavela of Kalinga who had defeated the kings of Andhra and Magadha. In the second and first centuries B.C. it also seems to have reached the southern districts of Tamil Nadu. In later centuries Jainism penetrated Rajasthan, Gujarat and Maharashtra, and even now these areas have a good number of Jains who are mainly engaged in trade and commerce. Although Jainism did not win as much state patronage as Buddhism did and did not spread very fast in early times, it still retains its hold in the areas where it spread. On the other hand, Buddhism practically disappeared from the Indian sub-continent.

Contribution of Jainism

Jainism made the first serious attempt to mitigate the evils of the varna order and the ritualistic

Vedic religion. The early Jains discarded Sanskrit language mainly patronised by the brahmanas. They adopted Prakrit, the language of the common people, to preach their doctrines. Their religious literature was written in the Ardha-Magadhi, Shauraseni and Maharashtri Prakrits. A set of their texts was compiled in the sixth century A.D. at Vallabhi in Gujarat. The adoption of Prakrit by the Jains helped the growth of these Prakrit languages as a literary norm. They also composed their early literary works in Apabhramsa and prepared its first grammer. They also wrote in early Tamil and contributed to the growth of Kannad in which they wrote extensively. The literature in Sanskrit, Hindi, Gujarati and Marathi has also been enriched by them.

The Jain literature was many-sided in theme and style. It included highly dialectical philosophical treatises, mythological **puranas** and epics, anthologies of aphorisms, literary stories and dramas, chronicles, and expositions on grammer, prosody and lexicons. Much of it has been published during the last 100 years, but still there are manuscripts in the **shastra-bhandaras** of many Jain shrines in Gujarat, Rajasthan and Karnataka, yet to be published.

The **tirthankara** image in the anthropomorphic form emerged in the first-second centuries A.D. Prior to that the **chaitya** or **stupa** symbolised the object of worship. The pantheon and the temple architecture developed after the emergence of the **tirthankara** image from the third century A.D. onwards, as was the case with Buddhism and the brahmanical Vaishnavism and Shaivism. Beautiful and sometimes massive images in stone were sculp-

ted, especially in Karnataka, Gujarat, Rajasthan and Madhya Pradesh. Rock-cut architecture and sculpture, mural paintings and miniatures on manuscripts were also patronised by the Jains. Jainism contributed significantly to art and architecture from the beginning of the Christian era through the mediaeval times.

Jainism contributed substantially to the growth of vegetarianism by its emphasis on non-killing (**ahimsa**). It also encouraged raising of milch cattle which was necessary for sustaining agriculture and rural economy.

Bibliography :

The History and Culture of the Indian People
vol. II - The Age of Imperial Unity
ed. Dr. R. C. Majumdar & A. D. Pusalker
(Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1953)

Dr. Hira Lal Jain : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
(Bhopal, 1962)

Dr. Jyoti Prasad Jain : 1. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि
(Bharatiya Jnanapitha, New Delhi, 2nd ed. 1966)
2. Bhagawan Mahavira : Life, Times and Teachings
(TMSK, Lucknow, 1982)
3. The Jaina Sources of the History of Ancient India
(Munshiram Manoharlal, Delhi, 1964)
4. Religion and Culture of the Jains
(B.J., New Delhi, 3rd ed. 1982)

Dr. Maruti Nandan Prasad Tiwari : जैन प्रतिमा विज्ञान
(PVSS, Varanasi, 1981)

Dr. Shashi Kant : 1. The Hathigumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka - A Critical Study (Prints India, New Delhi, 1971)
2. Political and Cultural History of Mid-North India (Neha Prakashan, Delhi, 1987)

जैन वाङ्मय में अनुयोग : स्वरूप और स्वभाव

—डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया

भारतीय विद्या और वाङ्मय का स्वरूप वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य और संस्कृति के सम्यक् समीकरण पर आधृत है। जैन शब्द 'जिन' से बना है, जिसका अर्थ है 'जीतने वाला'। समग्र कर्म-कषायों को जिसने जीत लिया हो, वह जिनेन्द्र, वीतराग कहलाया। जिनेन्द्र के उपासक, अनुयायी कहलाये जैन। जिनेन्द्र-वाणी को जिनवाणी कहा जाता है। शब्द और लिपि के माध्यम से जब जिनवाणी को रूपायित किया गया तब उसे आगम की संज्ञा प्राप्त हुई।

'युज्' धातुमें 'घञ्' प्रत्यय के साथ अनु उपसर्ग से अनुयोग शब्द का संगठन हुआ है। इस प्रकार अनुयोग शब्द का अर्थ है—प्रश्न, जिज्ञासा, पूछ-ताछ।[1] और यदि विस्तार से विचार करें तो खोज-खबर, परीक्षा, ध्यान, टीका-टिप्पणी भी इसका अभिप्राय स्थिर किया जा सकता है। जैन वाङ्मय में अनुयोग शब्द का विशेष अर्थ और अभिप्राय है। यह वस्तुतः एक पारिभाषिक शब्द है। यहाँ हम इसके स्वरूप और स्वभाव पर संक्षेप में विचार करेंगे।

जैन मान्यतानुसार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल नामक पाँच ज्ञान माने गये हैं। इनमें श्रुत ज्ञान पदार्थ ज्ञान है। शेष सभी स्थाप्य होने से स्वार्थ कहलाते हैं। श्रुत की व्यवहारिकता शास्त्र संगत है। वैदिक शास्त्रों को वेद, बौद्ध शास्त्रों को पिटक तथा जैन शास्त्रों को आगम कहा जाता है। आगम के अर्थ हैं आचार्य परंपरा से आगत मूल सिद्धान्त। जैन आगम मूलतः विशद और विस्तृत हैं। काल-दोष से उसका अधिकांश भाग नष्ट हो गया है। आगम की सार्थकता उसकी शाब्दिक रचना की अपेक्षा भाव प्रतिपादन के व्याज से है। इसीलिए शाब्दिक संरचना को उपचार के माध्यम से आगम कहा गया है। आगम-बोध के लिये पाँच विधियाँ निर्धारित की गई हैं, जिनके नाम हैं—शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ। शब्द वस्तुतः स्थूल होता है और अर्थ सूक्ष्म। शब्द का

अर्थ यद्यपि क्षेत्र-काल के प्रभाव से परिवर्तन शील है, परन्तु उसके भाव-स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। इसीलिए आगम अनादि कहलाता है। वीतराग वाणी होने से आगम को प्रमाण माना गया है। आगम प्राय: सूत्र शैली में है। अत्यल्प शब्दावलि में अधिकाधिक अर्थ को व्यवस्थित करने की क्षमता सूत्र में होती है। कालान्तर में आचार्यों द्वारा अत्यल्प बुद्धियों के लिये सूत्रागम की टीकायें, व्याख्यायें तथा सरल अध्ययन रचे गये।[2]

दिगम्बर आम्नाय के अनुसार आगम चार भागों में व्यवस्थित है। भाव जिज्ञासा, खोज-खबर, परीक्षण तथा टीका-टिप्पण के द्वारा जैनागम को व्यवस्थित करने की शक्ति सामर्थ्य अनुयोग में व्यंजित है। जैनागम के चार अनुयोग—१. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग, और ४. द्रव्यानुयोग उल्लिखित हैं।[3] ये आगम जन्य अनुयोग वस्तुत: श्रुत ज्ञान कहलाते हैं।[4] अब यहाँ प्रत्येक अनुयोग के स्वरूप तथा स्वभाव पर संक्षेप में अनुशीलन करना असंगत नहीं होगा।

प्रथमानुयोग

वे शास्त्र जिनमें महापुरुषों के चरित्रों के माध्यम से पाप-पुण्य के प्रश्नों का निरूपण होता है और अन्ततोगत्वा वीतराग को हितकारी प्रमाणित किया जाता है, वस्तुत: प्रथमानुयोग के शास्त्र कहलाते हैं। इन शास्त्रों में परमार्थ विषयक सम्यग्ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का, अथवा एक पुरुष के आश्रय कथा अथवा त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्रों का, पुण्य, रत्नत्रय और ध्यान का विवेचन सम्पन्न होता है।

इन शास्त्रों के विवेचन में पौराणिक मूल आख्यानों के साथ-साथ काल्पनिक कथाओं को भी सम्मिलित किया गया है ताकि प्रस्तावित प्रयोजन सिद्ध हो सके। ऐसे वृत्त काव्य शास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रभावक तो हो जाते हैं किन्तु प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् पंडित टोडरमल के निर्देशानुसार उक्त वृत्तों को आदर्श और अनुकरणीय मानते हुए भी उनसे सावधान रहना चाहिए।[5] प्रथमानु-

योग में कहीं-कहीं कर्त्तव्य विशेष की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए अल्प पाप का यत्न भी बहुत खोटा बता दिया जाता है, क्योंकि अज्ञानी जीव बहुत यत्न दिखाये बिना धर्म-कर्म के प्रति उत्साहित नहीं होते तथा पाप कार्य से डरते नहीं हैं।[6] प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पाँच सहस्र पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है।[7]

करणानुयोग

इस अनुयोग में गुण-स्थान, मार्गणा-स्थान आदि जीव का तथा कर्मों का और तीन लोक विषयक भौगोलिक उल्लेख उपलब्ध हैं। लोक-अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन, तथा चतुर्गतियों के स्पष्ट उल्लेख इस अनुयोग के शास्त्रों में विशद रूप से विवेचित हैं।[8] इतना ही नहीं **त्रिलोक सार** में तीर्थंकरों का अन्तराल और लोक-विभागादि आख्यान हैं।[9] इस अनुयोग के ग्रन्थों में अत्यन्त सूक्ष्म चर्चायें उल्लिखित हैं।

इस अनुयोग के शास्त्रों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों का स्थूल बुद्धिगोचर कथन होता है।[10] जीवों के अनन्त भावों का चौदह भागों में वर्गीकरण करके चौदह गुणस्थान रूप वर्णन हुआ है। कर्म परमाणु का भी वर्गीकरण आठ कर्मों एवं एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियों के रूप में किया गया है।[11]

चरणानुयोग

गृहस्थ और मुनियों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा सम्यग्ज्ञान पर निर्भर करती है। गृहस्थों और मुनियों के आचरण सम्बन्धी संविधान का विवेचन चरणानुयोग के शास्त्रों में परिलक्षित है।[12] इन शास्त्रों की मूल प्रवृत्ति सुभाषित शैली की है। इसमें नीति और नैतिक शास्त्रों की नाईं सिद्धान्तों का सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। जीवों को पाप से वियुक्त कर कर्म में प्रवृत्त करना वस्तुतः इन शास्त्रों का मूल प्रयोजन है। बाह्याचार का समस्त विधि-विधान चरणानुयोग का वर्ण्य विषय है। इसीलिये इन शास्त्रों में व्यवहार नय की मुख्यता मुखर हो उठी है। यत्र-तत्र निश्चय सहित व्यवहार का भी उपदेश व्यञ्जित है।[13]

द्रव्यानुयोग

द्रव्यानुयोग में षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व और स्व-पर भेद-विज्ञान का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। सत्प्ररूपणा में जो पदार्थों का अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाण की विवेचना द्रव्यानुयोग में हुई है।[14] द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव-अजीव रूप तत्त्वों को, पाप-पुण्य और बन्ध-मोक्ष को तथा भावश्रुत रूपी प्रकाश को विस्तारता है।[15] इस प्रकार **समयसार** आदि प्राभृत और **तत्त्वार्थ सूत्र** तथा सिद्धान्त परक शास्त्रों में मुख्यता से शुद्धाशुद्ध जीव आदि षट् द्रव्यों का जो वर्णन किया गया है वह वस्तुतः द्रव्यानुयोग कहलाता है।[16] इस अनुयोग के अन्तर्गत शास्त्रों का प्रयोजन वस्तु-स्वरूप का सच्चा श्रद्धान और स्व-पर भेद-विज्ञान उत्पन्न कर वीतरागता प्राप्त करने की प्रेरणा देना है। इसमें जीव-आस्रवादि तत्त्वों का वर्णन वीतरागता प्राप्ति के दृष्टिकोण को लक्ष्य में रख कर किया जाता है। आत्मानुभूति प्राप्त करने की प्रेरणा देने के लिए उसकी महिमा विशेष बताई जाती है। अध्यात्म उपदेश को विशेष स्थान प्राप्त रहता है तथा बाह्याचार और व्यवहार का सर्वत्र निषेध किया जाता है। उक्त कथन-शैली का उद्देश्य न समझ पाने से अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।[17]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत-ज्ञान का भण्डार आगम है जिनका विषयानुसार चार भागों में बिवेचन हुआ है। समस्त जिनवाणी का मन्तव्य एक-मात्र वीतरागता है। वीतरागता ही वास्तविक धर्म है। चारों अनुयोगों में वीतरागता की ही परिपुष्टि की गई है।

सन्दर्भ :

१. **बृहद हिन्दी शब्द कोश**, (ज्ञान मण्डल लिमिटेड), पृ० ६२
२. **द्रव्य संग्रह, टीका**, गाथा ४२
३. प्रथमानुयोगो ········ चरणानुयोगो ········ करणानुयोगो ········ द्रव्यानुयोगो इत्युक्त लक्षणानुयोग चतुष्टयरूपेण चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम्। —**पंचास्तिकाय**, ता. वृ. १७३–२५४–१५

४. प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधि-समाधि निधानं बोधश्रुतिवोध: समीचीन: ।।

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४३

५. **मोक्षमार्ग प्रकाशक**, गाथा ४०२ ।

६. डॉ० हुकम चन्द्र भारिल्ल—**पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व तथा कृतित्व**, पृ० १६३

७. पढमाणियोगो पंचसहस्सपदेहि पुराणं वण्णेंति

—धवला, २, १, १, २–१–१–२–४

८. लोकालोक विभक्तेर्युग परिवृत्ते श्चतुगतीनां च ।
आदर्श-मित्र तथा मतिरवैति करणानुयोगं च ।।

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४४

९. त्रिलोक सारे जिनान्तर लोक विभागादिग्रंथ व्याख्यानं करणानुयोगो विज्ञेय: ।

—द्रव्य संग्रह टीका, ४२-१८२–१०

१०. डा० हुकम चन्द्र भारिल्ल, वही, पृ० १६३

११. **मोक्षमार्ग प्रकाशक**, पृ० ४०३

१२. गृहमेध्यन गाराणं चारित्रोत्पत्ति वृद्धिरक्षाङ्गम ।
चरणानुयोग समयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४५

१३. **मोक्षमार्ग प्रकाशक**, पृ० ४०७

१४. संताणियोगम्हि जमत्थित्तं उत्तं तस्य पमाणं परुवेदि दव्वाणियोगे ।

—धवला, १–१–१–७–१५८–४

१५. जीवाजीव सुतत्वे पुण्यापुण्ये चबंध मोक्षो च ।
द्रव्यानुयोग दीप: श्रुत विद्यालोक मातनुते ।।

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४६

१६. प्राभृत तत्त्वार्थ सिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्ध, जीवादि षड् द्रव्यादीनं ।
मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स, द्रव्यानुयोगो भण्यते ।।

—द्रव्य संग्रह टीका, ४२–१८२–११

१७. डॉ० हुकम चन्द्र भारिल्ल, वही, पृ० १६७

———

जैन तत्त्व विचार में जीव तत्त्व : एक समीक्षा

—डा० विनोद कुमार तिवारी

जैन दार्शनिकों ने विश्व की प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक वस्तुओं को दो नित्य द्रव्यों में विभाजित किया है तथा इन्हें जीव और अजीव की संज्ञा दी है। जीव आत्मा है और अजीव अनात्मा। जीव को अधिक महत्व दिया गया है और इसीलिए इसका स्वतन्त्र रूप से अभिधान किया गया है। जैन दर्शन में आत्मा या चेतन को ही जीव माना गया है। चैतन्य जीव का मूल लक्षण है। इसमें प्राण के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक तथा इन्द्रियजन्य शक्ति है। शुद्धनय के अनुसार जीव में विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शन, अर्थात् निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान रहता है। किन्तु व्यवहार की दशा में कर्म की गति के कारण औपशमिक (ऐसा परिणाम जिसमें जीव के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन हो जाए), क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा परिणामिक—इन पांच भावप्राणों से जीव स्वतन्त्र नहीं रहता है, जिसके परिणामस्वरूप जीव का परिशुद्ध रूप छिप जाता है। आगे चलकर वही भावदशापन्न प्राण द्रव्य रूप में परिणत होकर पुद्गल कहलाता है और फिर वह जीव संसारी हो जाता है।

जैन विचार में प्रत्येक अवस्था के दो स्वरूप रहते हैं—'भाव' तथा 'द्रव्य'। इसमें भाव अव्यक्त की दशा है, जबकि व्यक्त की अवस्था में उसे द्रव्य माना जाता है। इसी प्रकार यहां हर घटना का निश्चय या विशुद्ध दृष्टि से एवं व्यवहारिक दृष्टि से विचार किया गया है। जैन दर्शन के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु एक स्वरूप को छोड़कर दूसरे स्वरूप को धारण करती रहती है, अर्थात् भाव द्रव्य में और द्रव्य भाव में परिवर्तित होते रहते हैं, जिस कारण इसे परिणामवादी भी कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु में 'अनन्त धर्म' को स्वीकार किया गया है और धर्मों के भेद से एक वस्तु को दूसरी वस्तु से भिन्न माना गया है।

अपने किये कर्मों के फलस्वरूप ही जीव की सभी क्रियायें घटित होती हैं। वह स्वयं प्रकाश है और अन्य वस्तुओं को भी

प्रकाशित करता है। शुद्ध दृष्टि से 'जीव' में ज्ञान तथा दर्शन है। जीव अमूर्त, कर्त्ता, स्थूल शरीर के समान विशाल, कर्मफलों का भोक्ता तथा सिद्ध है और ऊपर की ओर गतिशील है। अनादि 'अविद्या' के कारण 'कर्म' का जीव में प्रवेश होता है और इसी कर्म के साथ सम्बन्ध होने के कारण वह बन्धन में बंध जाता है। बन्धन की इस दशा में भी 'जीव' में चेतना रहती है। वह 'नित्य परिणामी' है। जीव किसी समय में जिस भौतिक शरीर से सम्बद्ध रहता है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार विस्तार और संकोच की क्षमता रखता है। जैसे, अगर कोई जीव हाथी के शरीर में प्रवेश करता है तो उसका विस्तार हाथी के बराबर हो जाता है और यदि वह चींटी के शरीर में प्रवेश करता है तो उसका रूप चींटी के समान हो जाता है। जीव का विस्तार जड़ के विस्तार से भिन्न है। वह शरीर को घेरता नहीं, परन्तु उसका प्रत्येक भाव में अनुभव होता है। जहां एक जड़ में दूसरे जड़ का प्रवेश नहीं हो सकता, वहीं जीव में आत्मा और जीव में दूसरे जीव का प्रवेश सम्भव है। चूंकि जीव में रूप नहीं है, अतः इसे आंखों से नहीं देखा जा सकता, पर उसके अस्तित्व का ज्ञान आत्मानुभूति में प्रमाणित होता है।

भले ही जीव में शुद्ध दर्शन हो या न हो, लेकिन किसी न किसी प्रकार का ज्ञान उसमें अवश्य ही रहता है। जैन दर्शन के अन्तर्गत ज्ञान के बिना जीव की या जीव के बिना ज्ञान की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ज्ञान जीव का विशेषण नहीं है, वल्कि उसका स्वरूप ही है। वाह्य उपाधियां, जैसे चक्षु और प्रकाश, केवल परोक्ष रूप से उपयोगी होती हैं और जब उनकी सहायता से बाधाएं दूर हो जाती हैं, तब ज्ञान अपने आप हो जाता है। जीव को जो ज्ञान साधारणतः होता है, उसके आंशिक होने का कारण कर्म का आवरण है जो जीव की प्रत्यक्ष शक्ति में बाधक होता है। चूंकि जीव में सम्यक् ज्ञान रहता है, अतः वह मुक्ति की तरफ प्रवाहित होता है। जीव हर क्षण परिणामी है और किसी दूसरी विशेष शक्ति के कारण वह सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करता है। जिस तरह से अन्य

द्रव्यों में प्रदेश होते हैं, उसी तरह जीव जिसे अवयवी कहा जाता है, में भी प्रदेश होते हैं। इसके प्रदेशों को पर्याय कहा गया है और जीव को अस्तिकाय।

जीव की एक विशेषता यह भी है कि उसमें हर क्षण जो स्वरूप पैदा होता है, वह दूसरे क्षण में परिवर्तित होकर दूसरा रूप धारण कर लेता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इस अवस्था में उसके स्वभाविक स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। वास्तविकता यह है कि वह प्रतिक्षण वर्तमान ही रहता है। जीव में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हर समय वर्तमान रहता है। वह काल के कारण होता है। इस कारण जीव को एक प्रकार का द्रव्य ही माना गया है।

स्वभावत: जीव पूर्ण है और इसमें 'अनन्त ज्ञान' तथा 'अनन्त सामर्थ्य' रहता ही है। पुद्गल के संयुक्त रहने की अवधि में, अर्थात् सांसारिक अवस्था में, इसके ये लक्षण तिरोहित हो जाते हैं, यद्यपि नष्ट नहीं होते। इस प्रकार जीव का वाह्य रूप उसकी सहज महिमा को छिपा देता है। जीव के महत्वपूर्ण गुण हैं चेतना या अनुभूति और उपयोग या चेतन का फल। उपयोग के भी दो भेद हैं यथा 'ज्ञानोपयोग' एवं 'दर्शनोपयोग'। इनमें से पहले को सविकल्पक और दूसरे को निर्विकल्पक ज्ञान की संज्ञा दी गई है। सविकल्पक ज्ञान के आठ विभेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्याय एवं केवल तथा तीन विपर्यय, अर्थात् कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि। इनमें से केवलज्ञान शुद्ध और क्षणिक है, क्योंकि यह कर्मों के नाश होने के बाद ही प्रकट होता है।

जीव के चार पर्याय या परिणाम हैं, यथा दिव्य, मानुष, नारकीय तथा तिर्यंक। परिणाम के दो प्रकार होते हैं—द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय। द्रव्य पर्याय विभिन्न गुणों में ऐक्य बुद्धि का कारण है। पर्याय के कारण द्रव्यों के गुण में जो परिवर्तन आता है, उसे गुण पर्याय कहते हैं, उदाहरणार्थ, व्यक्ति का बच्चे से बूढ़ा हो जाना, जबकि वह दोनों स्थितियों में मानव ही रहता है। द्रव्य

पर्याय के भी दो भेद हैं, एक में जड़ द्रव्यों के संघटन से 'समानजातिय द्रव्यपर्याय' उत्पन्न होता है, जबकि जड़ और चेतन से पैदा होने वाला 'असमानजातिय द्रव्यपर्याय' कहा जाता है। जैनों को 'सद्भाव वादी' कहा जाता है, जिसके अनुसार शरीर का नाश नहीं होता। जीव कोई भी रूप, यथा दिव्यरूप, नारकीय रूप या मानुषीय रूप, धारण कर ले, पर फिर भी वह जीव ही रहता है। जीवत्व रूप 'भाव' का कभी नाश नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पर्याय का परिणाम तो होता है, पर द्रव्य का नहीं, क्योंकि द्रव्य एक प्रकार से नित्य है। जैन दर्शन के 'अनेकान्तवाद' में यही प्रक्रिया समझाई गई है।

साधारणत: जीव के दो भेद किये जाते हैं—'बद्ध' तथा 'मुक्त'। बद्ध जीव से तात्पर्य उन आत्माओं से है जो बन्धन ग्रस्त हैं, जबकि मोक्ष प्राप्त कर लेने वाली आत्माओं को मुक्त जीव की संज्ञा दी गई है। संसारी या बद्ध जीवों को त्रस तथा स्थावर दो भागों में बांटा गया है। स्थावर जीव गतिहीन जीवों को कहा जाता है और ये क्षिति, जल, तेज, वायु और वनस्पति में निवास करते हैं। चूंकि इनके पास केवल स्पर्श का ही ज्ञान होता है, अत: इन्हें एकेन्द्रिय जीव भी कहा जाता है। त्रस वे जीव हैं, जिनमें एक से ज्यादा इन्द्रियां रहती हैं और वे गतिशील होती हैं। इसके अन्तर्गत मनुष्य, जानवर, पक्षी, देवता और नारकीय जनों को रखा जा सकता है। इनमें अलग-अलग स्वरूप को धारण करने वाले को अलग-अलग नाम दिया जा सकता है, जैसे पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय और तेजकाय वगैरह।

जैनों ने मुख्यत: चेतन जीवों की ही चर्चा की है। पर अलग-अलग जीवों में चैतन्य की यात्रायें अलग-अलग होती हैं। जहां कुछ जीवों में चेतना कम होती है, वहीं कुछ में यह काफी अधिक होती है। मुक्त जीवों में चेतना का विकास सबसे अधिक होता है और स्थावर जीवों में यह सबसे कम विकसित अवस्था में रहती है। ★

विकासवाद : एक समीक्षा

–आचार्य शिवचन्द्र शर्मा

आज विकासवाद वैज्ञानिक व ऐतिहासिक दोनों ही क्षेत्रों में अपना स्थान बना चुका है। विभिन्न जातियों की उत्पत्ति में और मानवी बुद्धि के विकास में विकासवाद ही को आधार समझा जाता है। विकासवाद प्राणियों की अन्तरीय रचना को महत्त्वपूर्ण मानता है और उसी के मिलान पर प्राणियों की श्रेणी का विभाजन स्वीकार करता है, लेकिन यह औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शरीर तुलना शास्त्र में बाह्यरूप के आधार पर ही श्रेणियाँ निश्चित की जाती हैं। स्तनधारियों की श्रेणी स्तन देखकर, तीक्ष्ण दाँत वालों की श्रेणी दाँत देख कर, तेज गति वालों की श्रेणी तेज चाल देख कर ही निश्चित की गई है। स्पष्ट है कि अन्तर रचना पर वर्ग विभाग सम्भव नहीं है।

विकासवाद की मान्यता है कि मत्स्य, मण्डूक, पक्षी, स्तनधारी, कीट, अमीबा आदि के शरीर की बनावट एक ही जैसी है, लेकिन रचना साम्य का यह सिद्धान्त भी त्रुटि पूर्ण ही दिखाई पड़ता हैं, क्योंकि अस्थियुक्त प्राणियों का अस्थि-रहित प्राणियों के साथ कुछ भी तो मेल नहीं है। विकासवाद के समर्थकों का कथन है कि प्राणी के विकास व परिवर्तन में उसकी इच्छा व आवश्यकता एवं परिस्थिति ही प्रमुख कारण होती है। वे कहते हैं कि मरु प्रदेशों में पाया जाने वाला लम्बी गर्दन वाला जिराफ़ नामक पशु आज जिस रूप में उपलब्ध है, पहले ऐसा नहीं था। जब उसने नीचे के पत्ते खा लिये तो ऊपर के पत्ते खाने की इच्छा पैदा हुई और इसके लिए उसने गर्दन उठा-उठाकर प्रयास किया, फलस्वरूप गर्दन लम्बी हो गई। यदि उपर्युक्त सिद्धांत को ठीक समझा जाए तब तो बकरी की गर्दन भी लम्बी हो जानी चाहिए थी ; वह भी तो वृक्ष के ऊपरी भाग के पत्ते खाने की इच्छा करती है और पैर रखकर उन तक पहुंचने का प्रयास भी करती है। मनुष्य में शीत से बचने

की इच्छा भी है और आवश्यकता भी, लेकिन उत्तरी ध्रुव और ग्रीनलैण्ड जैसे हिम प्रधान प्रदेशों में रहने वाले मनुष्य के शरीर पर आज तक भी रीछ जैसे बाल पैदा नहीं हो पाए। राजस्थान की तपती भूमि में रहने वाली और शीत-प्रधान हिमालय प्रदेश में रहने वाली भेड़ के लम्बे बाल एक जैसे होते हैं, इनमें अन्तर क्यों नहीं ? हमारे देश में समान परिस्थिति में रहने वाली गाय और भैंस में अन्तर देखने को मिलता है। भैंस का चर्म पतला व चिकना होता है और शरीर पर छोटे-छोटे रोयें होते हैं। इसके विपरीत गाय का चर्म कुछ कठोर होता है और रोयें भी अधिक होते हैं। हिरन, चीतल, नील गाय आदि जंगली पशुओं में नर के तो सींग होते हैं लेकिन मादा के नहीं, आत्मरक्षा के लिए सींगों की आवश्यकता तो दोनों को होती है। फिर यह अन्तर क्यों ? समान परिस्थिति में जन्म लेने वाले भाई-बहन में अन्तर पाया जाता है। दाढ़ी-मूंछ केवल भाई के मुँह पर होती है। समान परिस्थिति वाले हाथी-हथिनी में बाहर को निकले बड़े दाँत केवल हाथी के मुँह में होते हैं। समान परिस्थिति के मोर-मयूरी और मुर्गा-मुर्गी में केवल नर के ही सुन्दर पर और कलगी होते हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य के बालों के रंग में तो परिवर्तन हो जाता है, लेकिन मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के बालों में परिवर्तन नहीं होता। गाय भैंस आदि जिस रंग की पैदा होती है, आजीवन उसी रंग की रहती हैं। पशु तो पानी में स्वभाव से ही तैरने लगते हैं। राजस्थान की भैंस जिसने कभी तालाब नहीं देखा, वह भी तैर जाती है, लेकिन मल्लाह का बेटा बिना सीखे तैर नहीं सकता। आत्म-रक्षा की भावना प्रत्येक प्राणी में स्वभाव से ही पाई जाती है, लेकिन पतंगा दीपशिखा के सम्पर्क में आते ही जल जाता है। वह बचने का तरीका क्यों नहीं सीख पाया ? विकास वाद की मान्यता है कि विकास-क्रम में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम प्राणी है। फिर भी मनुष्य की तुलना में चींटी जैसे क्षुद्र प्राणी को वर्षा का ज्ञान कैसे हो जाता है ? कुत्ते जैसे निकृष्ट प्राणी को भूकम्प का पूर्वानुमान कैसे हो जाता है ? मनुष्य भी दीर्घ जीवी होना चाहता है,

लेकिन कछुआ, साँप आदि निम्न स्तर के प्राणी मनुष्य की अपेक्षा अधिक दीर्घ जीवी क्यों होते हैं ? मनुष्य भी थोड़े समय में अधिक मार्ग तय करना चाहता है, लेकिन फिर भी वह चीते जैसी तेज गति क्यों नहीं प्राप्त कर पाया ? कुत्ते जैसी घ्राणशक्ति और गृध जैसी दूर दृष्टि उसे क्यों नहीं मिल पाई ? एक छोटी सी बया नाम की चिड़िया जैसा सुन्दर घर आज बनाती है वैसा ही लाखों वर्ष पहले भी बनाती थी, लेकिन मनुष्य से एक पीढ़ी नीचे माने जाने वाला बन्दर नहीं बना सका । हम देखते हैं कि मकड़ी जाला बना लेती है और मधुमक्खी लाजवाब छत्ता बना लेती है, लेकिन इन्होंने ये कलाएं किसी से सीखी नहीं हैं । जिसे जो स्वभाव से आता है, उसी को करता चला आ रहा है । वास्तविकता तो यह है कि समस्त जातियाँ जिनकी जाति, आयु और भोग अलग-अलग नियत हैं, वे सब ईश्वर कृत हैं । उनके शरीरों में जो ह्रास-विकास दिखाई देता है, वह परिस्थिति आदि के कारण नहीं हुआ अपितु उनके पूर्व कर्मानुसार ईश्वरीय व्यवस्था से सुख:दुख भोगने के लिए हुआ । "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा: ।"

विकासवाद की यह मान्यता भी तर्क तुला पर खरी नहीं उतरती कि भिन्न-भिन्न दो जातियों के मिश्रण से भी वंश चलता है । बिल्कुल ही भिन्न-भिन्न दो जातियों के मिश्रण से सन्तति नहीं होती, यदि कहीं होती भी है तो वंश नहीं चलता । घोड़े-गधे के मेल से खच्चर तो होता है, लेकिन आगे खच्चर का वंश नहीं चलता । सजातीय मिश्रण से ही सन्तति होती है और वंश चलता है । हमारी तो मान्यता ही है कि "समान प्रसवात्मिका जाति: " अर्थात् जाति वही है जिसमें प्रसव की समानता हो । विकासवादियों का यह कथन तो सही है कि प्राणियों की उत्पत्ति, सादी रचना से क्लिष्ट रचना के क्रम से होती है, लेकिन यह कथन मान्य नहीं है कि सादी रचना वाले ही क्लिष्ट रचना वाले हो जाते हैं । कानखजूरे की सी क्लिष्ट रचना साँप की नहीं है और न तितली जैसी कारीगरी कौवे में ही पाई जाती है,

(शेष पृष्ठ ५३ पर)

विचार-बिन्दु

सत्यान्नास्ति परो धर्मः : मुनि व धनी का मोर्चा

—श्रीमती वासंती शहा

भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद जैन समाज में उत्सवों के लिये मानों बाढ़ आ गई है। इन पचास वर्षों में कई नए क्षेत्रों का निर्माण हुआ और प्राचीनों का जीर्णोद्धार भी हुआ। नये मन्दिरों व मूर्तियों का जो निर्माण हुआ उसकी तो गिनती तक नहीं की जा सकती।

जैन समाज में बारह ही महीनों छोटे-बड़े उत्सव चलते ही रहते हैं। कारण, जैन समाज में आज वणिकों का राज्य है और इस समाज का मार्ग दर्शन करने वाले मुनि स्वयं उत्सव-प्रिय हो गये हैं। इस वजह से समाज के दान-धर्म की सारी धारणायें ही बदल गई हैं। मुनियों की जन्म जयन्ति, दीक्षा महोत्सव आदि धूमधाम से मनाने का रिवाज चल पड़ा है। जैन-धर्म जो समाजोन्मुख था, वह अब मन्दिर-मूर्ति-उन्मुख बन गया है।

शास्त्र का इशारा है कि समाज की आवश्यकता देख दान किया जाए। लेकिन इस शास्त्र-संकेत को जब मुनियों ने ही झुठला दिया है तो मुनियों के उपदेश का आँख मूँद कर अनुसरण करने वाले मूढ़ समाज को दोषी ठहराने में क्या अर्थ है?

(पृष्ठ ५२ का शेष)

लेकिन विकासवाद कहता है कि तितली और कानखजूरा, कौवे और सर्प से पहले ही उत्पन्न हो गये थे। ऐसी स्थिति में सादी और क्लिष्ट रचना का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। वास्तव में सृष्टि का नियम है कि पहले भोग्य और फिर भोक्ता उत्पन्न होता है। कर्मानुसार प्राणी ही भोग्य और भोक्ता होता है। सादी रचना वाले भोग्य और क्लिष्ट रचना वाले भोक्ता होते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार सर्वप्रथम वनस्पति, फिर पशु और अन्त में मनुष्य पैदा हुए।

★

सोलह-सत्रह वर्ष पहले की बात है विद्यानन्द मुनि उस समय कुम्भोज बाहुबली में थे। उनकी जन्म-जयन्ति के लिए धन की आवश्यकता थी। इसलिए भगवान बाहुबली की मूर्ति के अभिषेक की योजना बनाई गई। कारण स्पष्ट है, जैन समाज के रग-रग में यह अंध-श्रद्धा घर कर गई है कि मूर्ति के पंचामृत अभिषेक से पुण्य लाभ होता है। इसलिए चाहे जितने मूल्यवान खाद्य पदार्थ का अपव्यय करने में जैन समाज को कोई आपत्ति नहीं है। राष्ट्रसन्त के सम्मुख पांच-दस हजार के एक-हजार-आठ दूध-घी के कलश पन्द्रह-बीस दिनों में ही खर्च कर दिये गये। उससे पचास लाख रुपये प्राप्त किये गये। पाँच-दस लाख रुपये का फायदा हुआ।

सैकड़ों लीटर खाद्य पदार्थ भगवान बाहुबली व विद्यानन्द मुनि के जय-जयकार में अभिषेक के रूप में अपव्यय करने पर एकत्रित समूह को एक पुण्यकर्म करने की आनन्दानुभूति हुई। लेकिन लंगोटी का भी परिग्रह न रखने वाले मुनि की जन्म-जयन्ति लाखों रुपये खर्च कर और खाद्यान्न का अपव्यय कर मनाई जाये—क्यों यह मन को स्वीकार्य है ? धर्म को स्वीकार्य है ?

इसी बाहुबली संस्था के तीन चार गुरुकुल (आश्रम) हैं। उनमें रहने वाले बच्चों को कई महीनों तक दूध-घी नसीब नहीं होते। स्वयं महाराज के जन्म-ग्राम शेडवाल में गरीब, असहाय लड़कों के लिये आचार्य शांतिसागर अनाथ छात्राश्रम है। उसकी क्षमता सौ लड़कों के वहाँ रह कर अध्ययन करने की है। पर गत दस-पन्द्रह वर्ष से लड़कों की संख्या निरन्तर घटती हुई इस बार सिर्फ सत्रह रह गई है। इसका कारण उनके खान-पान की कमी है, शिक्षा की कमी है, उनके स्वास्थ्य की ओर उपेक्षा है—ऐसे अनेक कारण हैं, पर उनकी चिन्ता कौन करता है ?

श्री विद्यानन्द जी मुनि ने दस-पन्द्रह वर्ष पहले इन्दौर में भगवान बाहुबली की मूर्ति की स्थापना की। इस कार्य के लिए उन्होंने सदा अकाल की छाया में रहने वाली महाराष्ट्र की जनता से

दस लाख रुपये इकट्ठा करा कर इन्दौरवासियों को दिये और तिस पर कहा कि 'महाराष्ट्र में मेरी बात का क्या महत्व है, यह मुझे उत्तर भारत वालों को दिखाना था।'

महाराज अपने को राष्ट्रसन्त कहलवाते हैं। पर उन्होंने राष्ट्र के लिए क्या किया है? जैन समाज के लिए भी उन्होंने क्या किया है? इतना ही नहीं, कर्नाटक प्रांत के लिए, साक्षात् अपने जन्म-ग्राम के लिए ही उन्होंने क्या किया है? उत्तर भारत के समाज में उनकी बात का क्या मायना है, यह वे यहाँ की जनता को क्यों नहीं दिखाते? उत्तर में महाराज के भक्त बड़ी संख्या में हैं। उनके कई भक्त करोड़पति हैं, अरबपति हैं। महाराज जी की एक बात पर बावनगजाजी का जीर्णोद्धार हो सकता है। महावीर जी की मूर्ति के सहस्त्राब्दी समारोह का इस वर्ष आयोजन करके भी उन्होंने यह प्रदर्शित कर दिया है।

हर चार-पाँच वर्ष में एक बड़ा समारोह होना ही चाहिए, ऐसा महाराज जी का कहना है। इसके पीछे उनका तर्क है कि देश भर का जैन समाज वहाँ पर एकत्रित होता है तब उनसे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। पर समारोह के लिए करोड़ों रुपये खर्च कर स्थापित किये जाने वाला सम्पर्क आखिर समाज को कितना महँगा पड़ेगा—यह एक विचारणीय बात है। और समारोह या भीड़ क्या समाज से सम्पर्क स्थापित करने के स्थान है?

सच तो यह है कि महाराज जी का समाज से किसी भी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने का उद्देश्य नहीं रहता। समारोह के लिए उन्हें सिर्फ भारी भीड़ इकट्ठी करनी होती है। वह भी अपने नाम का जोरदार जय-जयकार हो – इस उद्देश्य से। मुनिश्री हमेशा धनिकों से घिरे रहते हैं। धनिकों को चीर कर आम जनता उन तक पहुँच भी नहीं सकती।

मुनि और धनिकों का यह अशुभ संगठन समाज को आखिर कहाँ ले जाएगा – इसे मात्र सर्वज्ञ भगवान ही जान सकते हैं। ★

चिन्तन कण

लोक रचना, पंच मेरु, नरक भूमियों और स्वर्गों की अवधारणा

—श्री सुखमाल चन्द्र जैन

लोक रचना

जैन धर्म की **लोक रचना** जुगराफिया नहीं है क्योंकि जुगराफिया नाप-तोल के हिसाब से होता ही नहीं—हर तरह से टेढ़ा-मेढ़ा होता है। वस्तुतः इसका भूगोल से कोई मतलब नहीं है। इसका ध्येय तो केवल आत्मा को राग-द्वेष-मोह के आवरण से मुक्त करके निजानन्द रस लीन करना है। लोक की रचना पुण्य-पाप को चित्रण करने वाली कथाएं कहने के लिए काल्पनिक है—कल्पना में मूल तत्त्व काल्पनिक नहीं है। छः द्रव्य लोक में हैं, अनन्त लोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य है।

लोक के ऊर्ध्व-मध्य-अधो लोक (तीन प्रदेश) करके सामान्य बात कही गई है कि ऊपर देवलोक, नीचे नरक। Details की स्थापना धर्म की रीति-नीति के अनुसार कर दी गई है, जैसे कि हमारी अवधारणा के स्वर्ग में शराब की नदियां नहीं हैं।

पंच मेरु

'पंच मेरु' लोकाकाश में नहीं हैं, साहित्य में हैं। साहित्य की कृपा से और धर्म के उपदेष्टाओं की कृपा से अनुयायियों की मान्यता में ये बराबर हैं। पंच मेरु का लाभ उठाने के लिए उनका मान्यता में होना आवश्यक है और सौभाग्य से वे वहां ही हैं भी और प्रत्येक अष्टान्हिका में समाज को लाभ पहुंचा भी रहे हैं। वर्ष के तीन अष्टान्हिका पर्वों में उनकी स्थापना करके और उन पर अस्सी अकृत्रिम चैत्यालयों (प्रत्येक १०० योजन लम्बे, ५० योजन चौड़े तथा ७५ योजन ऊँचे) की मनोहर स्थापना करके सम्यग्दर्शन की साधना करनी है।

वहाँ यात्रा के लिए जाने का उपदेश तो है ही नहीं। अतः पंच मेरु पर जाने के मार्ग का नक्शा बनाने और जाने के साधन आदि जुटाने की चिन्ता भी नहीं है।

पहला केन्द्र में एक लाख योजन ऊँचा **सुदर्शन मेरु** (सम्यग्दर्शन का सुमेरु) है जिस पर तलहटी में भद्रशाल वन है और चारों दिशाओं में अकृत्रिम चैत्यालय हैं। भाव पूजा प्रारम्भ हो गई। अब पर्वतारोहण में पहला पड़ाव पांच सौ योजन ऊँचाई पर नन्दन वन में होगा। पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए चार अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन-पूजन का आनन्द लिया।

अब सौमनस (शुद्ध मन) वन तक पहुंचने के लिए बहुत परिश्रम और मन का नियन्त्रण करना होगा। साढ़े बासठ हजार योजन ऊंचे चढ़ना है। साधारण श्रावकों के लिए अत्यन्त कठिन है। जब तक सुमेरु आरोहण की शक्ति और उत्साह का प्रादुर्भाव न हो, तब तक नित्य पूजा की तरह अष्ट द्रव्य से ही पूजा करो।

शुद्ध निर्विकल्पत्व प्राप्त होने पर भी पाण्डुक वन की ३६००० योजन ऊंचाई पर पहुंचने के लिए विशेष स्थिरता दरकार है।

मिथ्यात्व के इस प्रकार निष्कासन से दूसरे **विजय मेरु** की ८४००० योजन की ऊंचाई तक आरोहण करते हुए और सोलह अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करते हुए, मिथ्यात्व पर विजय का उल्लास मनाते हैं।

अब बाधा रहित स्थिरता की प्राप्ति हो गयी है, अतः तीसरे **अचल मेरु** की वन्दना की पात्रता उपलब्ध हो गई है। प्रमाद का भी नाश हो गया है।

चौथे **मन्दिर मेरु** की वन्दना त्रिगुप्ति के साथ होगी। जय हो।

पाँचवें **विद्युन्माली मेरु** की वन्दना में केवलज्ञान के प्रकाश के साथ साधक की ही अर्हन्त अवस्था होगी।

ऐसी यह 'पंच मेरु' की यात्रा के अभ्यास की प्रेरणा कार्तिक-फाल्गुण-आषाढ़ के शुक्ल पक्ष के अन्तिम आठ दिनों में जैन शासन देता है।

नरक की सात भूमियाँ

मूल सूत्र कहता है कि सात भूमियाँ एक के नीचे एक इस

प्रकार हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और महातम:प्रभा—जिन में नारकी निवास करते हैं। व्याख्या में यह अर्थ लिया गया है कि जैसी मिट्टी-पत्थर की भूमि पर हम रहते हैं, वैसी ही यह भी हैं। इस अर्थ से जनसाधारण में यह भाव व्याप्त हो रहा है कि प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय ने जनता को डराने-लुभाने के उद्देश्य से नरक-स्वर्ग के काल्पनिक रूप पेश किये हैं जिससे कि जनता में नैतिकता और साम्प्रदायिकता दोनों बातें बनी रहें।

भूमि का अर्थ स्तर (level) भी तो है। इन भूमियों को परिस्थितियों के स्तर मानने से नरक-वर्ग की सत्यता में अविश्वास का कारण ही शेष नहीं रह जाता है। प्रत्येक भूमि के नाम उनके रूप पर प्रकाश डालते हैं।

अनैतिक विचार-व्यवहार से मनुष्य का पतन होता है—यह तो सब स्वीकार करते ही हैं चाहे स्वयं नैतिक हों या अनैतिक। पतन का पहला रूप है रत्नप्रभा में निवास जहाँ अनैतिकता सफल हुई है और फलस्वरूप व्यक्ति उत्कृष्ट भोगोपभोग-सामग्री का स्वामी है—उद्योग-व्यापार, मदिरा, वेश्यायें, संगीत-नृत्य, अटूट-धन, स्वस्थ शरीर (और क्या चाहिए ?)—किन्तु मानसिक उलझनों और आध्यात्मिक शक्ति की शून्यता के कारण व्यक्ति नरक में है।

दूसरा नरक शर्कराप्रभा है—आमदनी के स्रोतों में कमी है, फिर भी ऐय्याशी के कुछ साधन शेष हैं जिनसे मिठास मिल रही है। साथ ही बढ़ता हुआ ऋण, नीलाम होती हुई सम्पत्ति, मित्रों के विश्वासघात, प्रेयसियों की पराङ्मुखता, राज्य शासन का अंकुश, आदि क्लेशदायक आघात नरक का बोध कराने से नहीं चूक रहे हैं।

तीसरा नरक बालुकाप्रभा है और शैतान (अनैतिकत्व) इस नरक का स्वामी है। खुदा तो पहले नरक में पधारने पर ही मिलना बन्द हो गया था—तीसरे नरक में 'विसाले सनम' भी मिलना समाप्त हो गया और यह लोकोक्ति पूरी तरह जीवन में चरितार्थ हो गयी कि "न खुदा ही मिला, न विसाले सनम, न इधर के रहे न

उधर के रहे" । अनैतिकता में असफल हो गये व्यक्ति का साथ सब छोड़ जाते हैं। भोगोपभोग सामग्री भी नहीं रही—अब क्या करें ? चारों और रेगिस्तान है, पीने के लिये पानी तक नहीं (मदिरा तो दरकिनार), बालुकाप्रभा नाम यह सब स्पष्ट बता रहा है।

नरक में कदम रखने पर पहली भूमि कब तक रहेगी ? गिर कर दूसरी पर आयेगा—वहाँ से गिरकर तीसरे का भी सामना करना ही पड़ेगा। अगर यहाँ भी होश में नहीं आता है और नैतिकता की ओर वापिस नहीं जाता है तो फिर आगे देखिये किन-किन विषमताओं में फंसना पड़ेगा, जहाँ से न मालूम कब निकलना हो। नरक में आयु वर्षों की बजाय सागरों में बताई गई। 'सागर' का परिमाण ही कल्पनातीत होता है।

चौथा नरक पङ्कप्रभा है—समस्याओं का दल-दल चारों तरफ है, समस्याओं की मार ही मार। केवल नरक के सिंह-द्वार पर रत्नों का प्रकाश है, भीतर उत्तरोत्तर अंधकार बढ़ता जाता है। ऊपरी मुस्कान भी समाप्त हो जाती है, भीख भी मांगे नहीं मिलती है। अगली नरक की भूमियें अपनी दशा स्वयं बता रही हैं—धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा।

यह समझने की बात है कि नरकायु अलग बात है और नरकगति अलग है। गति तो हर समय बदलती रहती है, गति ही जो है। आयु एक निर्दिष्ट समय तक एक आयाम में स्थिर रहती है। मनुष्य-आयु और पशु-आयु (जो हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं) उनमें भावमन चारों गतियों में योग्यतानुसार भ्रमण करता रहता है। लोक में भी कहते सुना जाता है कि अमुक व्यक्ति शेर है या गीदड़ है, अज्ञानी पशु है या क्रूर नारकी है, इत्यादि।

जो शरीर एक आयु में प्राप्त है—मनुष्य का, पशु का, देव का, नारकी का, स्त्री का, पुरुष का—वह शरीर तो उस आयु तक वहीं रहेगा, किन्तु भीतर जो आत्मा है उसके भावों की गति पर तो कोई नियन्त्रण नहीं हो सकता है। स्त्री शरीरधारी आत्मा के भाव पुरुष के पौरुष जैसे हो सकते हैं और पुरुष शरीरधारी आत्मा के

भाव स्त्री जैसे संगीतादि कलाओं में अनुरक्त हो सकते हैं। तैमूरलङ्ग, नादिरशाह, हिटलर आदि की नारकीयता से तत्कालीन युद्ध क्षेत्र नरकों के शास्त्रीय वर्णन का भी उल्लंघन करता था।

स्वर्ग-नरक के वर्णन का मर्म समझ कर हमें समाज में और देश में अपने शुभ भावों से स्वर्ग का वातावरण निर्मित करना है और अनैतिक नारकीय भावों को दूर रखना है ताकि वर्तमान नारकीय वातावरण का लोप हो जाय।

नीचे ढलान पर फिसलने के लिये तो सीढ़ी की जरूरत नहीं होती है। रत्नप्रभा से आकर्षित होकर एक बार वहाँ प्रवेश कर लो, महातम:प्रभा तक पहुँचने में देर नहीं लगेगी। किन्तु स्वर्गों की ऊंचाइयों पर चढ़ने के लिये नैतिकता के साथ पुरुषार्थ के श्रम की आवश्यकता होगी।

सोलह स्वर्ग

स्वर्गों के नाम भी उसी तरह उपलब्धियों के प्रदर्शक हैं—

सौधर्म ईशान सानत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म ब्रह्मोत्तर
लान्तव कापिष्ट शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार
आनत प्राणत आरण अच्युत नव ग्रैवेयक नव अनुदिश
विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित सर्वार्थसिद्धौ च।

आप यह मत सोचिये कि मरने से पहले स्वर्ग कैसे जा सकते हैं। मरने के बाद जो होगा वह तो भविष्य की देख-रेख में होता रहेगा। आप अपने भावों को एकाग्रता से राकेट की तरह स्वर्गोपम व्यवहार में प्रवृत्त करने में निरन्तर अभ्यास से सफल हो जायें तो आप स्वयं में भी दिव्यता और देवत्व का अनुभव करेंगे और संसार भी अलौकिक व्यवहार से लाभ पाता हुआ, आपको देव कहकर ही कृतज्ञता प्रकट करेगा।

कुछ स्वर्गों के नामों से उन स्थितियों में निवास करने वाली आत्माओं का परिचय प्राप्त होगा।

धर्म के प्रति सक्रिय प्रीति रखने वाले ओर उसकी प्रभावना करने वाले व्यक्ति सौधर्म में रहते हैं। भगवान् के पाँचों कल्याणक

सौधर्मेन्द्र की योजनाओं के अनुसार मनाये जाते हैं। भगवान् का समवशरण भी स्थान-स्थान पर वही अपनी माया से बनाता है। सामाजिक संस्थाओं, तीर्थ क्षेत्रों और मन्दिरों के प्रबन्धक व्यक्ति यदि वे सम्यग्दृष्टि हैं तो सौधर्म स्वर्ग के निवासी हैं, किन्तु यदि वे ख्याति-लाभ-पूजा की प्राप्ति के उद्देश्य से घुसपैठिये हैं तो रत्नप्रभा के निवासी असुरकुमार जाति के मिथ्यादृष्टि हैं। संस्कृत में जिन शब्दों के अन्त में ककार होता है, उनका अर्थ हो जाता है क्षुद्र या नीच—इस प्रकार नरक शब्द का अर्थ होता है नीच या पापी मनुष्य। जिन शब्दों के अन्त में गकार होता है, उनका अर्थ हो जाता है 'गमन करने वाला'—इस प्रकार खग का अर्थ है 'आकाश में गमन करने वाला' (सूर्य या पक्षी या विद्याधर) और स्वर्ग का अर्थ है, ऊर्ध्वलोक में जाने वाला।

पाँचवा ब्रह्म स्वर्ग है जहाँ के निवासी लौकान्तिक देव हैं जो केवल तीर्थंकरों के वैराग्य होने के समय उनके अभिनन्दनार्थ ही पधारते हैं—शेष समय धर्मध्यान में निमग्न रहते हैं। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा। उनके संसार का अन्त आ गया है—अन्तिम कदम उठाना ही रह गया है।

सोलहवाँ स्वर्ग है अच्युत जहाँ पहुंचने पर फिर पतन का खतरा नहीं रहता है।

अन्तिम स्वर्ग है सर्वार्थसिद्धि जो मोक्ष के मार्ग का अन्तिम पड़ाव है।

जैन धर्म के स्वर्गों की प्ररूपणा में नैतिकता से प्राप्त इन्द्रिय-जनित भोगोपभोग भी उत्तरोत्तर क्षीण होते जाते हैं। काय प्रवीचार पहले दो स्वर्गों में ही है—आगे केवल स्पर्श-रूप-शब्द-मन: प्रवीचार है। अन्तिम पाँच स्वर्गों में प्रवीचार-रहित आत्मलीनता है। जहाँ मर्यादा रहित भोगोपभोग हो सकते हैं, वे तो रत्नप्रभा और शर्करा-प्रभा नरक भूमियें हैं। स्वर्ग तो प्रवृत्ति से विश्राम के स्थान हैं जबकि नरक अनैतिक प्रवृत्ति की भूमियें हैं। नैतिक प्रवृत्ति करने वाला मानव ही मनुष्य क़हलाने का अधिकारी है।

[वयोवृद्ध स्वाध्यायी श्री सुखमाल चन्द्र जैन ने अपने दीर्घ कालीन चिन्तन के प्रतिफल स्वरूप जैन धर्म की लोक रचना, पंच मेरु, नरक भूमियों और स्वर्गों की अवधारणा में निहित आध्यात्मिक रहस्य को प्रस्तुत किया है। जस्टिस एम० एल० जैन इस व्याख्या की सराहना करते हुए लिखते हैं कि "पंच मेरु अर्थात सुदर्शन मेरु (नन्दन वन, सौमनस, पाण्डुक वन), विजय मेरु, अचल मेरु, मन्दिर मेरु व विद्युन्नमाली की कल्पना-स्थापना में सम्यक्‌दर्शन से लेकर सम्पूर्ण ज्ञान तक आत्मा द्वारा आरोहण का ही वर्णन है। ये सब आत्मोत्थान की सीढ़ियाँ हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर पौराणिकता में निहित आध्यात्मिक रहस्यों का उद्‌घाटन आसानी से हो जाता है और पुराणों का कल्पना संस्कार लुभावने रूप से हमें जैन दर्शन को समझने-समझाने में सहायक का काम करता है।"

स्वर्ग-नरक के सम्बन्ध में हमारी अपनी भी सोच है कि स्वर्ग और नरक अलग से भी हो सकते हैं पर उनका अनुभव व्यक्ति अधिकांशत: इसी जन्म में भी कर लेता है। स्वर्ग-नरक मानसिक व्यापार अधिक है, भौतिक की अपेक्षा। ऐसे अनेक व्यक्ति देखने-सुनने में आते हैं जो असीम वैभव के बीच रहते दिखाई पड़ते हैं पर हर पल चिन्ताओं से घिरे, पारिवारिक कलह से त्रस्त, मानसिक तनाव से ग्रस्त रहते हैं, रात्रि में नींद की गोली के सहारे ही थोड़ा बहुत सो पाते हैं तथा कभी-कभी अपने अशान्त जीवन से उकता कर आत्म-हत्या तक करने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को रत्नप्रभा नरक का वासी कहा जाय तो कदाचित् अनुचित न होगा।

जो व्यक्ति भयंकर मधुमेह से पीड़ित हैं, वे भौतिक दृष्टि से अति सम्पन्न होते हुए भी स्वादिष्ट मधुर व्यंजन खाने के लिए निरन्तर तरसते रहते हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों को शर्कराप्रभा नरक का वासी कहना उचित न होगा ?

ठाणांग सूत्र के दसवें ठाणे में नारकी द्वारा ८० वेदनाओं के सतत अनुभव करते रहने का उल्लेख मिलता है जिसमें खुजली, ज्वर और दाह भी सम्मिलित हैं। **भगवती** शतक ७, उद्‌देशक ८, में

भी इनका उल्लेख मिलता है। अर्थात् नारकी प्राय: प्रतिक्षण रोगी रहता है। अत: जो व्यक्ति निरन्तर रोगी रहते हैं, कैंसर, कुष्ठ रोग, एड्स आदि ला-इलाज महाव्याधियों से ग्रसित हैं, या जिन्हें अपनी शरीर की स्वच्छता के लिये भी दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, इस जीवन में नरक ही भोगते हैं। निकटतम परिजन भी मनाने लगते हैं कि कब उनका इस नारकी जीवन से छुटकारा हो।

नारकी जीव सभी नपुंसक लिंगी होना बताया गया है। मनुष्य योनि में भी जो नपुंसक लिंगी (द्रव्य से या शारीरिक अक्षमता से) होते हैं वे अपनी सतत अतृप्त कामनाओं के कारण अशान्त नारकी जीवन ही तो जीते हैं।

जेलों में सश्रम करावास की लम्बी सजा भोगते हुए, हर क्षण अपमान अनादर तथा शारीरिक उत्पीड़न को सहन करने के लिए बाध्य हुए बन्दी व्यक्तियों का जीवन नरक वास ही तो है तथा उनको उत्पीड़ित करने वाले वार्डर-जेलर नरकों के असुर कुमार देव ही तो हैं। तीव्र वेदना में एक-एक पल युगों लम्बा लगता है। नरकों में आयु सागरों-पल्यों में बताई गई है। क्या इसका यह भी तो रहस्य नहीं है ?

असंयमी सम्यग्दृष्टि जीव जिन्हें पुण्योदय से स्वस्थ शरीर और संसार देह के सभी भोगोपभोग प्राप्त हैं पर जो उन्हें भोगते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होते, जो पर्याय बुद्धि नहीं हैं तथा सम-विषम परिस्थितियों में साम्य भाव रखने की कला जानते हैं, शांत व सरल परिणामी हैं, जिन्हें कविवर बनारसी दास 'सुखिया सदैव' कहते हैं, उनमें तथा सौधर्म-ईशान स्वर्गों के देवों में अन्तर ही क्या रह जाता है ? इनमें भी जो धर्मनिष्ठ हैं, तथा धर्म कार्यों में उल्लसित होकर स्वयं भरसक योगदान करते हैं तथा दूसरों को प्रेरित करते हैं, हम तो उन्हें इस लोक में सौधर्मेन्द्र और ईशानेन्द्र के समकक्ष ही समझते हैं। —अजित प्रसाद जैन]

——

जिज्ञासा : समाधान

शोधादर्श-३३ के पृ० २६६-६७ पर श्री शांतिलाल के० शहा की १० *जिज्ञासाओं को स्वाध्याय-प्रेमी श्रावक-श्राविकाओं के* विचार-उत्प्रेरण के लिए प्रकाशित किया गया था। कानपुर से श्री इन्द्र जीत जैन, लखनऊ से श्री प्रकाश चन्द्र जैन और नई दिल्ली से जस्टिस एम० एल० जैन ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उक्त सभी महानुभाव स्वाध्याय-प्रेमी वयोवृद्ध श्रावक हैं। उनके चिन्तन का सारांश निम्नवत है—

श्री इन्द्र जीत जैन : समस्त जैन शासन तीर्थंकर भगवान की दिव्य ध्वनि पर आधारित है। भगवान की दिव्य ध्वनि समस्त जैनागम को प्रस्थापित करती है जिसको श्रुत केवली गणधर झेलकर श्रुत के रूप में प्रति-गणधर और आचार्यों तक पहुंचाते हैं जो परम्परा के आगम का निर्माण करते हैं। हम यदि केवली की सर्वज्ञता पर विश्वास और श्रद्धा करते हैं तो हमें इस प्रकार की जिज्ञासा तो हो सकती है किन्तु अविश्वास का कोई कारण नहीं है। तीर्थंकरों की संख्या प्ररुपणा के लिए जैनागम के प्रथमानुयोग के ग्रन्थ और अंग वाह्य ग्रन्थ यथा **त्रिलोकसार** और **गोम्मटसार जीव काण्ड** अवलोकनीय हैं। तीर्थंकर क्षत्रिय ही क्यों हो, इस सम्बन्ध में करणानुयोग के ग्रन्थ उपयोगी हैं। विज्ञान की मान्यता खोज के ऊपर आधारित होती है, जबकि जैन अवधारणा सर्वज्ञ के वचन पर आधारित है। आचार्य पूज्यपाद की **सर्वार्थसिद्धि** और स्वामी समन्तभद्र की **आप्त मीमांसा** का स्वाध्याय प्रस्तुत जिज्ञासाओं के समाधान में सहायक होगा।

श्री प्रकाश चन्द्र जैन : जैन धर्म की सभी शाखाओं द्वारा यह मान्य है कि अवधि, मन:पर्याय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष प्रमाण है। यदि सामान्य बुद्धि से विचार करें तो अनुभूत ज्ञान प्रत्यक्ष और ग्रहीत ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। इस रूप में हमें जो भी ज्ञान प्राप्त है वह धर्म सम्बन्धी हो अथवा संसार

सम्बन्धी, सभी श्रुत पर आधारित है। **उत्तराध्ययन सूत्र** में कहा है—

न हु जिणे अज्ज दिस्सई बहुमए दिस्सई मग देसिए।
संपइ नेया उए पहे, समयं गोयम ! मा पमाये ।।

अर्थात्, भगवान महावीर गौतम गणधर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि भावी लोग कहेंगे कि जिन अब विद्यमान नहीं हैं और मार्गदर्शक भिन्न-भिन्न मत के हैं, किन्तु तुम्हें न्यायपूर्ण मार्ग उपलब्ध है अतः हे गौतम ! तुम क्षण मात्र का प्रमाद न करो।

उपरोक्त कथन आज का यथार्थ है। आज उपलब्ध आगम सर्व सम्मत नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों द्वारा मान्य आगम अलग-अलग हैं। यह कहना भी कठिन है कि उपलब्ध आगम केवल महावीर वाणी ही है। उन पर देश-काल का प्रभाव तो पड़ा ही है।

तीर्थंकर जनता को केवल धर्म तथा आत्म-कल्याण सम्बन्धी उपदेश ही देते हैं। हमें उन तथ्यों पर ही चिन्तन करना चाहिए जिनका सम्बन्ध हमारे आत्मोत्थान से है। जहां विषय बुद्धि गम्य नहीं है अथवा विवादित है वहां तटस्थ भाव रखना उचित है।

तीर्थंकरों की संख्या परम्परागत श्रुत पर आधारित है तथा सर्व मान्य है। जब तक कोई विपरीत प्रमाण सामने न लाया जाये, इस सर्वमान्य संख्या पर प्रश्न चिन्ह लगाना उचित नहीं लगता।

जहां तक सौर मण्डल के साथ ग्रहों के संघर्ष होने से विश्व के विलय का प्रश्न है, सम्भवतः विज्ञान भी अस्तित्व समाप्ति को मान्यता प्रदान नहीं करता। जैन धर्म के अनुसार संसार में जीव और अजीव दो मुख्य द्रव्य हैं। यदि उनका मौलिक अस्तित्व मिट नहीं सकता तो विश्व का लोप भी सम्भव नहीं, रुपान्तरण तो होता ही रहेगा।

केवलदर्शन और केवलज्ञान युगपत् हैं—दर्शनावरण और ज्ञानावरण कर्म प्रवृतियों के लोप से ये प्रकट होते हैं और एक साथ होते हैं। इस पर दिगम्बर व श्वेताम्बर आम्नायों में कोई भेद नहीं है।

जहां तक शेष प्रश्नों का सम्बन्ध है, ऐसी मान्यताओं का आधार केवल आस्था है। अतः तटस्थ भाव रखना ही उचित है। अपने अन्दर के विकारों के प्रति जागरुक बन कर धर्माचरण करना ही प्रायोजित है।

जस्टिस एम० एल० जैन : श्री शांतिलाल के० शहा ने जो दस सवाल किये हैं, इनका छोटा-सा अच्छा-सा जवाब तो यह है कि प्रथमानुयोग के शास्त्र (पुराण) एक समन्दर के समान हैं जिनमें इतने मोती हैं कि सबको खोज पाना और फिर उनमें चुनाव करना बड़ा कठिन काम है। आठ सवाल तो सीधे तीर्थंकरों के बारे में हैं। अब तीर्थंकरों के बारे में जो पुराणों में लिखा है वह सब वैसा है, वैसा ही है, बस है ऐसा ही। ये सब सवाल तब ही खड़े होते हैं जब हम यह मान कर चलें कि ये सब बातें आचार्यों ने अपनी कल्पना से बनाई हैं। परन्तु ऐसा है क्या ? यदि नहीं, तो सवालों की कोई जरूरत नहीं रहती।

तीर्थंकरों की परम्परा और संख्या के बारे में सही-सही जवाब तो तब ही दिया जा सकता है जब यह पता चले कि श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर पुराणों में या अन्य साहित्य में इनकी संख्या २४ महावीर निर्वाण के बाद सबसे पहले कब बताई गई।

गोरखपंथी लोग मानते हैं कि नाथयोगी सिद्ध ४ हैं, हिन्दू धर्म में भगवान विष्णु के अवतार दस हैं, जिनमें एक बुद्ध भी हैं। बौद्ध धर्म में बोधिसत्व कम से कम ६ होते हैं उसके बाद कोई बुद्ध बनता है। मध्य एशिया के एकाधिक पैगम्बर और इसी तरह जैन धर्म के २४ तीर्थंकर। फरक यह है कि बौद्ध धर्म व जैन धर्म में ईश्वर की सार्वभौम सत्ता से ही इन्कार कर दिया गया है इसलिये अवतार, पैगम्बर व ईश्वर-पुत्र की कल्पना या स्थिति से इन्कार करना ही था परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सका कि समय-समय पर मार्गदर्शक की आवश्यकता मानव समाज को रहती आई है—यह काल-चक्र की मांग है, ठीक उसी तरह जिस तरह समय-समय पर शक्तिशाली राजाओं की, सम्राटों की, सन्तों की

जरूरत होती है और वे प्रकट होते भी हैं—इतिहास इस बात का साक्षी है।

संख्या का महत्व मात्र ऐतिहासिक है और इसको अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। इसी संख्या को मान्य करने में बुराई भी तो कोई नहीं। अतः इसे कबूल करके पूजा-अर्चना करना चाहिए और सम्यक् चरित्र की ओर बढ़ना चाहिए। संख्या के घटा-बढ़ा देने से उनके उपदेशों में कोई कमोवेश होने वाला नहीं है। इस संख्या पर प्रश्न चिन्ह यदि लगाएंगे तो त्रिषष्टि शलाका पुरुषों की सभी की संख्या पर प्रश्न चिन्ह लगाना पड़ जाएगा और धीरे-धीरे श्रद्धा का धरातल खिसकने लगेगा।

हां, इस प्रश्न के साथ इस बात पर भी गौर करना होगा कि तीर्थंकरों की मूर्तियों की पहचान के जो चिन्ह नियत किये गये हैं वे बहुत बाद में नियत किये गए हैं। शुरू की मूर्तियों पर ऐसे कोई निशान नहीं पाये जाते। इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि शायद तब केवल एक ही तीर्थंकर की मान्यता रही हो और बाद में जब अधिक तीर्थंकरों की मूर्तियां बनने लगीं तो मूर्तियों की पहचान के लिए चिन्ह नियत करने पड़े।

यहां यह भी बता दें कि गोरखनाथ के सम्प्रदाय के लोग भी किसी आदिनाथ को और २२ मुख्य नाथ सिद्धों को मानते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्यों के भी नाम नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, धर्मनाथ आदि हैं। वे तो यह भी कहते हैं कि नेमनाथ व पारसनाथ मछन्दरनाथ के पुत्र थे जिन्होंने ही जैन धर्म चलाया है। यह अवश्य ही खोज का विषय है कि हमारे तीर्थंकरों के नामों के साथ 'नाथ' शब्द क्यों और कब से लगाया जाने लगा है। **महापुराण** में तीर्थंकरों के नाम के साथ 'नाथ' नहीं लगा है। इससे यह शंका होती है कि तांत्रिक नाथ सम्प्रदाय के प्रभुत्व के समय यह नाथ शब्द जोड़ा गया है।

हमारी मान्यता है कि ऋषभदेव ने तीन वर्ण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कायम किये और चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की

चक्रवर्ती सम्राट भरत ने। इससे पहले वर्ण-व्यवस्था और वंश-व्यवस्था थी ही नहीं। इसलिये ऋषभदेव जन्म से क्षत्रिय थे ही नहीं। अन्तिम तीर्थंकर महावीर श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार दरअसल ब्राह्मण दम्पति की सन्तान थे किन्तु बाद में भ्रूण के अन्तरण के द्वारा क्षत्रियाणी के गर्भ में गये थे। भ्रूण अंतरण अब तो मामूली बात हो गई है। इस तरह प्रथम व अन्तिम तीर्थंकरों का क्षत्रिय कहना मुश्किल लगता है। हां, बाकी २२ क्षत्रिय थे। बस थे, यह सही जवाब है। अन्यथा, यदि दिमाग दौड़ाया जाए तो इसमें एक पैटर्न, एक प्रतिमान, नजर आएगा। बिना शासन सत्ता के कौन मानता है किसी की बात, साथ ही लुभाते भी हैं जन-जन को शान-शौकत, पराक्रम, वैभव। प्रभाव पड़ता है इनका, इन्सान की परम्परागत कमजोरी है यह। यही वजह जान पड़ती है कि तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म और तप के शुरूआत की शान-शौकत सम्राटों से भी बढ़-चढ़ कर दिखाई गई। केवल तप के दौरान यह ठाठ-बाट छूटता है परन्तु कैवल्य के समय पुन: प्रकट हो जाता है। अब अन्दाज लगा लें कि क्यों सब तीर्थंकर क्षत्रिय हुए हैं।

ब्राह्मणों के बारे में पहली बात तो यह है कि वे जन्म से नहीं वरन् गुण और कर्म से ब्राह्मण होते थे। दूसरी यह कि गणधरों में तीर्थंकर आदिनाथ के चौरासी गणधर थे, वे शायद ब्राह्मण नहीं थे। उनके प्रथम गणधर वृषभसेन तो उनके पुत्र ही थे। महावीर के गणधर ग्यारह थे; उनमें से इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति और वायुभूति अवश्य ब्राह्मण थे। अन्य तीर्थंकरों के सब गणधर ब्राह्मण ही थे ऐसा कहना कठिन है। फिर भी तीर्थंकर महावीर की यह बुद्धिमत्ता थी कि उन्होंने गणधर ब्राह्मण ही चुना क्योंकि गौतम बड़े विद्वान थे और अभिमानी भी। बस उनकी विद्वत्ता को मोड़ देने भर की बात थी और ज्यों ही यह चमत्कार हुआ तो उन्होंने बहुत थोड़े समय में सारे जैन दर्शन को अंगबद्ध कर दिया। यों कहिए, जैन दर्शन का आज का सारा स्वरूप उनकी ही देन है। तीर्थंकर क्षत्रिय थे इसलिये आत्म-ज्ञानी और गुरू होते थे, ऐसी कोई बात नहीं है। यह अवश्य

है कि अनेकान्तदर्शी होने के कारण वेदान्त दर्शन की कुछ बातों में व जैन दर्शन में समानता है।

तीर्थंकर का दर्जा सामान्य केवली से ऊंचा रखा गया है। केवलज्ञान हो जाने पर ज्ञान के और आत्मोन्नति के हिसाब से केवली तीर्थंकर और केवली सामान्य में कोई अन्तर नहीं है। भेद है केवल नेतृत्व का। तीर्थंकर चूंकि तीर्थ प्रवर्तन करते हैं याने उनके द्वारा दिखाये गए मोक्ष मार्ग से चल कर ही अन्य केवली बनते हैं इसलिए तीर्थंकर का अलग और ऊंचा दर्जा है।

केवलज्ञान व केवलदर्शन एक साथ प्रकट होते हैं। मुझे यह बात गलत लगती है कि सामान्य केवली त्रिलोक ज्ञानी होता है, त्रिकाल ज्ञानी नहीं।

भेद करना अनेकान्त की एक विधा है—भेद-विज्ञान। हम तो सिद्धों के भी भेद करते हैं। भेद-विज्ञान है 'गहरे पानी पैठ'। समंदर में गोताखोरी।

केवलज्ञान हो जाने पर तीर्थंकर केवली की आयु सामान्य केवली से अधिक क्यों होती है? कारण तो साफ है कि कई प्रदेशों में सम्पूर्णतः तीर्थ-प्रवर्तन के लिए तीर्थ कर्ता को अधिक समय चाहिये परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि हर केवली का जीवनकाल अपने-अपने आयुकर्म की अवधि पर निर्भर करता है।

विज्ञान तो विश्व के रहस्यों का उद्घाटन करता है। अनेक सौर-मण्डल और अनेक आकाश-गंगाए हैं परन्तु किसी विज्ञान-वेत्ता ने यह नहीं कहा है कि बस ये सब इतने हैं, और नहीं हैं, और इससे आगे हो नहीं सकते। दरअसल भौतिक विज्ञान ने इतना भर सिद्ध किया है कि सितारों से आगे जहां और भी हैं, कि विश्व अनादि अनन्त है। विश्व कितने वर्षों बाद विलय को प्राप्त होगा, कोई वैज्ञानिक इस बात का दावा नहीं करता। भारतीय जैन ऋषि यह कह चुके हैं कि अनादि अनन्त है यह विश्व और विज्ञान यही सिद्ध करता जा रहा है।

समन्दर का अन्त है किन्तु शास्त्र याने ज्ञान में कुछ भी

अन्तिम नहीं है, बस कुछ मोटे-मोटे निर्णय हैं, निष्कर्ष हैं। यही कारण है कि जैन दर्शन भी अनादि अनन्त है। जैन दर्शन की सीख है—उस दशा की खोज जिसमें मन आत्मा निर्विकल्प, निश्चय, निष्कम्प, निर्धूम, निःशंकित, शांत हो जाए, यही है सुख-दुख से रहित वीतराग, अनन्त सुख, अनन्त आनन्द जो 'जिन खोजा तिन पाइयां'।

डा० शशि कान्त : शास्त्रोक्त और आगम-आधारित समाधान प्रस्तुत करने के लिए श्री इन्द्रजीत जी, श्री प्रकाश चन्द्र जी और जस्टिस एम० एल० जैन जी तथा अपनी जिज्ञासा द्वारा स्वाध्याय-प्रेमियों को उत्प्रेरित करने के लिए श्री शहा जी साधुवाद के पात्र हैं।

परम्परा से सर्वज्ञ तीर्थंकर से आगत ज्ञान को अन्तिम सत्य स्वीकार किया जाना धार्मिक आस्था की विवशता है। उसका तर्क-सम्मत, बुद्धिग्राह्य और तथ्यसंगत होना आवश्यक नहीं है। अतः सहज बुद्धि (common sense) और उपलब्ध पुरातत्त्व आदि के साक्ष्य पर आधारित कोई विवेचन धर्मनिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं को सामान्यतः रुचिकर नहीं होगा और धार्मिक श्रद्धान (अन्धविश्वास) के व्यवसायी धर्म गुरुओं को सह्य नहीं होगा। तथापि आधुनिक शोध-खोज एवं बुद्धि विलास के वातावरण में इन जिज्ञासाओं की उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए, ना ही इन्हें धर्म विरोधी कहकर टालना उचित होगा।

शोधादर्श-२८ के पृ० १०४-०५ पर हमने तीर्थंकरों की संख्या और भारत की विभिन्न धार्मिक अनुश्रुतियों के पौराणिक आख्यानों में पारस्परिक आदान-प्रदान की चर्चा की थी। उपलब्ध साहित्यिक अनुश्रुतियाँ ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों से पहले की नहीं हैं और भगवान महावीर के ज्ञात समय से प्रायः ५०० वर्ष बाद से प्रारम्भ होती हैं। पौराणिक साहित्य का प्रणयन भारत में सभी धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा ५वीं से १०वीं शताब्दी ईस्वी के मध्य सामान्यतः किया गया परन्तु पुराण गाथायें १९वीं शताब्दी तक लिखी जाती रहीं और अब इस शती में भी कुछ आचार्य व गणिनी

अपनी-अपनी विधा से नई अनुश्रुतियों की प्रस्थापना कर रहे हैं जिसमें आधुनिक शोध-खोज और उपलब्ध पुरातात्त्विक एवं अन्य साक्ष्यों को भी अपनी क्षमता के अनुसार संश्लिष्ट कर रहे हैं। पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजय द्वारा पर्याप्त शोधन के बाद जाली घोषित किये जाने के बाद भी **हिमवन्त थेरावली** को कुछ श्वेताम्बर आचार्य (यथा, महाराज हस्तिमल का **जैन धर्म का मौलिक इतिहास**) आधार ग्रन्थ के रूप में उपयोग कर रहे हैं। एक सूरि-शिशु नरेन्द्र सागर गोम्मटेश्वर बाहुबलि की मूर्ति को श्वेताम्बर सिद्ध करने पर कटिबद्ध हैं (देखें, **शोधादर्श**-२८, पृ० ११०-१४)। जैनों के अन्दर ब्राह्मणों की घुस-पैठ पर हमने **शोधादर्श**-३२ के पृ० १४३ पर चर्चा की है।

तीर्थंकरों की २४ की संख्या का समाधान शलाका पुरुषों की ६३ की संख्या के आधार से किया जाना समीचीन नहीं लगता क्योंकि शलाका पुरुषों की वास्तविक संख्या ६० ही है (देखें, **शोधादर्श**-३१, पृ० २३)।

विज्ञान की उपलब्धियों को धर्म-ग्रन्थों में संगृहीत प्रायः असंगत मान्यताओं के आधार से नकार देना उचित नहीं है। यह भी उचित नहीं है कि कुछ संकेतों को लेकर यह कह दिया जाय कि यह तो हमारे वेद, पुराणों और आगमों में पहले से ही मौजूद है। विज्ञान का मार्ग प्रगति का, आगे बढ़ने का, रास्ता है और उसके अनुसार हमें अपनी मान्यताओं को व्यवस्थित करना अपेक्षित है। दकियानूसीपन या रूढ़िवादिता और ज्ञानोन्नति, सुधार व प्रबोधन विरोध (obscurantism) कोई जैन धर्म की ही विशेषता नहीं है, वरन् यह सभी धर्म-सम्प्रदायों की कमजोरी है, फिर भी मनुष्य प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता गया है—और आगे बढ़ता भी जायेगा। यह स्वागतार्ह है कि चिन्तनशील स्वाध्याय-प्रेमियों में जिज्ञासा उत्प्रेरित होती है।

विज्ञान और बुद्धिग्राह्यता की अपेक्षा से जीव और जगत के सम्बन्ध में एक विचारणा **शोधादर्श**-९ में पृ० ४०-४६ पर प्रस्तुत की गई है जो भी दृष्टव्य है। ★

आइये, प्रण करें

—श्री राजीव कान्त जैन

उन्नीस-सौ इकहत्तर के शहीदों, कौन तुम्हें याद करे ?
बंधक पड़े जवानों, कौन तुम्हारी फ़रियाद सुने ?
वो गौरवमयी जीत जो जंग लड़ कर जीती थी,
जवानों की जुदाई में अपनों पर जो बीती थी,
कहां हैं वो जीत का उल्लास, दर्द का अहसास ?

हैं सब व्यस्त अपने में, **धन-स्याम** के जपने में।
जन बिकता, ज़मीर बिकता, जान जहां बिकती है,
नैतिक मूल्य की बस न कोई बोली लगती है—
न कोई इसका रखवाला, न कोई खरीदने वाला,
बासी चीज़ बस म्यूज़ियम में अच्छी लगती है।

दादा कहते हैं—पहले देश सोने की चिड़िया था,
पर आज हर उड़ती चिड़िया के पास सोना है।
दादी कहे—मगर फैले चारों ओर घात लगाये,
मगर-मच्छी आंसू में डूबा बन्दर कैसे जान बचाये ?
अक्लवाला था बन्दर, अब देश में है केवल नम्बर।

जो होता दस नम्बरी, वो आता है अव्वल नम्बर।
नम्बरों का खेल है, नम्बरों में जो फेल है
पाता केवल वही है देश में आला नम्बर।
एक देश को भारतेन्दु जी ने देखा, कह डाला—
'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।'

जब राजा बिवेकहीन, प्रजा संवेदन शून्य होने लगे,
ऐसे सर्द देश के लिये कोई क्योंकर प्राण देने लगे ?
पूर्वजों के बलिदान को क्या यही हमारा प्रतिदान—
उनने आज़ादी दी, हम आज़ादी की लाश ढोने लगे,
गुलों भरे चमन में, पौधे बबूल के बोने लगे।

आज़ादी स्वच्छन्दता है, उच्छृंखलता, अराजकता नहीं।
आज़ादी अनुशासन है, आवारगी या बेचारगी नहीं।
आज़ादी स्वभाव है, प्राणी मात्र का सहज भाव है।
आज़ादी जीवन संगीत है, जीने का एक अन्दाज़ है,
देश के सर्व-साधारण जन की उन्मुक्त आवाज़ है।

पर अब आवाज़ों में केवल शोर, संगीत क्यों नहीं ?
आइये, आज हम सब मिलकर फिर प्रण करें,
अपनी आवाज़ों में ऐसा मीठा सुर संगीत भरें,
हम अपनी मीठी तान पर गर्व करें और कहें—
'हम हैं उस देश के इंसान,
जिसे सब कहते **मेरा भारत महान।'**

*

भवसागर पार लगेगा कैसे ?

—श्री रमा कान्त जैन

इस भवसागर में जिधर भी देखें
सागर ही सागर नज़र आते हैं ।।
और तो और छोटे गागर भी
यहाँ सागर से नज़र आते हैं ।।
दया-धर्म, विद्या-बुद्धि, संयम-विवेक
सब डूबे हैं सागर में ऐसे,
भवसागर पार लगेगा कैसे, इसके आसार
हमें कम ही नज़र आते हैं ।।

*

सोचो, कैसे निर्मल मन होगा

—श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास'

सोचो, सोचो मानव ! सोचो, कैसे निर्मल मन होगा।
मलिन हृदय में किस प्रकार से, परम सत्य दर्शन होगा।।

क्रोध न छूटा, मान न छूटा, माया का सारा व्यवहार।
धन के लोभ में आत्म उत्थान का, कभी नहीं आता सुविचार।।
राग-द्वेष से दूषित मन में, कैसे शुभ चिन्तन होगा।
सोचो............

सदा स्वयं को गुणी मानते, अन्य जनों में खोजे दोष।
बिना टटोले अन्तर्मन को, बतलाते निज को निर्दोष।।
मुख अपना कैसे देखोगे, जब न स्वच्छ दर्पण होगा।
सोचो............

पर निन्दा कड़वी बोली ने, तोड़ दिये कितने परिवार।
बीज वैर के ऐसे बोये, जन्म अनेकों दिये बिगाड़।।
कटुक वचन बाणों से कैसे, प्रेम भाव अर्जन होगा।
सोचो............

प्रेम का धागा कभी न झटको, अगर टूट वह जायेगा।
यत्न अनेकों करने पर भी, वैसे न जुड़ पायेगा।।
यदि कभी जुड़ जाये भी तो, गांठ का वहां बन्धन होगा।
सोचो............

वीर प्रभु ने अनेकान्त का, हम सब को आधार दिया।
हर दृष्टि से सच को परखो, पावन परम विचार दिया।।
अंश सत्य के "दास" मिला कर, पूर्ण सत्य वर्णन होगा।
सोचो............

—

इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन की जन्म-जयन्ती तथा शोधादर्श के प्रधान सम्पादक श्री अजित प्रसाद जैन का अभिनन्दन

६-२-१९९८ को ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में इतिहास-मनीषी, विद्यावारिधि स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन की ८६वीं जन्म-जयन्ती पर नगर के प्रबुद्धजनों की एक गोष्ठी डा० पूर्ण चन्द्र जैन की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। स्व० डाक्टर साहब के चित्र पर माल्यार्पण और उनके प्रिय स्तोत्र **महावीराष्टक** के सस्वर पाठ तथा उनके द्वारा रचित **वीतराग स्वरूपम्** एवं **जय महावीर नमो** के सामूहिक गायन के साथ गोष्ठी का शुभारम्भ हुआ। गोष्ठी का संचालन श्री रमा कान्त जैन ने किया।

विषय प्रवेश करते हुए डा० शशि कान्त ने स्व० डाक्टर साहब के इतिहास, साहित्य और जैन धर्म के प्रति योगदान का संक्षिप्त परिचय दिया और कहा कि 'उनका स्मरण हमें अपनी बौद्धिक अभिरुचियों को बनाये रखने की प्रेरणा देता है। इसी का परिणाम है कि उनके द्वारा आरम्भ किये गये **शोधादर्श** को हम अनवरत निकालते चले आ रहे हैं। उनके द्वारा वपन किया गया बीज अब पल्लवित-पुष्पित होने लगा है।'

साथ ही उन्होंने यह शुभ सूचना दी कि **शोधादर्श** एवं **समन्वयवाणी** पत्रों के कुशल प्रधान सम्पादक, विद्याव्यसनी, प्रबुद्ध चिन्तक एवं सुलेखक श्री अजित प्रसाद जैन जी ने इस वर्ष पहली जनवरी को कर्मठ जीवन जीते हुए ८० वर्ष पूर्ण कर लिये हैं। श्री जैन के जीवन एवं व्यक्तित्व का परिचय देते हुए उन्होंने पुष्पहार पहना कर उनका अभिनन्दन किया और यह कामना व्यक्त की कि उनकी स्नेहछाया आगे भी इसी प्रकार बनी रहे और वे स्वस्थ रह शतायु हों! गोष्ठी में उपस्थित सभी ने डा० शशि कान्त की इस

मंगलकामना में अपना स्वर मिला श्री अजित प्रसाद जी का अभिनन्दन किया।

तदनन्तर डा० इन्दु भूषण जिन्दल, श्री नरेश चन्द्र जैन, श्री सूर्य कान्त जैन, श्री अजित प्रसाद जैन और अध्यक्ष डा० पूर्ण चन्द्र जी ने स्व० डाक्टर साहब के जीवन और व्यक्तित्व से सम्बन्धित अपने संस्मरण सुनाये, और कु० हेमा सक्सेना व कु० नीतू सक्सेना ने आध्यात्मिक भजनों का गायन किया।

सरस्वती वन्दना कर श्री रमा कान्त ने काव्य गोष्ठी का सूत्रपात किया। श्री प्रकाश चन्द्र 'दास' ने स्व० डाक्टर साहब के प्रति अपनी काव्याञ्जलि अर्पित की और अपनी रचना 'सोचो, कैसे निर्मल मन होगा' का वाचन किया। डा० महावीर प्रसाद जैन 'प्रशान्त' ने भी स्व० डाक्टर साहब के प्रति अपनी भावाञ्जलि प्रस्तुत की और अपनी रचना 'जीवन धारा' सुनाई। डा० शशि कान्त ने अपनी चिन्तन परक रचना 'इतिहास सन्देश' से श्रोताओं को मुग्ध किया। श्री रमा कान्त ने स्व० डाक्टर साहब के प्रति प्रस्तुत किये गये वन्दना के स्वरों में अपना स्वर मिलाते हुए पढ़ा—

वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो।
वन्दनीय चरणों में उनके, शीश मेरा भी नवा लो॥
श्रृद्धा-सुमन जो हैं अर्पित, उनमें सुमन मेरा मिला लो।
वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो॥
'अनन्त-ज्योति' ज्ञान की वे जगमगाते रहे।
उस ज्योति में, चाह मेरी, एक लौ मेरी मिला लो॥

इस अवसर पर डा० शशि कान्त की अध्यक्षता में 'ज्योति प्रसाद जैन ट्रस्ट' की वार्षिक बैठक भी सम्पन्न हुई।

—रमा कान्त जैन

परिचय

डा० अरविन्द कुमार जैन, राज्य मंत्री, उ० प्र० सरकार

१९८९, १९९१, १९९३ तथा १९९६ में लगातार भारतीय जनता पार्टी के टिकट पर ललितपुर जनपद से उत्तर प्रदेश विधान सभा के निर्वाचित सदस्य **डा० अरविन्द कुमार जैन** अक्तूबर १९९७ में श्री कल्याण सिंह के नेतृत्व में गठित मन्त्रिमण्डल में राज्य मंत्री, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य, नियुक्त किये गये।

डा० जैन का जन्म ग्राम गोना, जनपद ललितपुर, में सितम्बर १९३३ में हुआ था। उन्होंने वाराणसी विश्वविद्यालय से ए०बी०एम०एस० की उपाधि वर्ष १९५९ में प्राप्त की, तथा साथ ही संस्कृत विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की। उसी वर्ष २० जून को श्रीमती सुधा से उनका विवाह हुआ और ललितपुर में चिकित्सक के रूप में उन्होंने जन सेवा प्रारम्भ की।

राजनैतिक क्षेत्र में १९७२ से भारतीय जनता पार्टी के सदस्य रहे और १९७७ में जनता पार्टी के ललितपुर जनपद के जिला उपाध्यक्ष रहे। १९८२ से १९८८ तक ललितपुर में वह विश्व हिन्दू परिषद के अध्यक्ष रहे और १९८९ से भारतीय जनता पार्टी के विधायक हैं।

सामाजिक क्षेत्र में १२ वर्ष तक वह दिगम्बर जैन देवगढ़ तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष रहे, श्री जैन इण्टर कालेज के संचालन समिति के सदस्य रहे, और कई वर्षों से सरस्वती शिशु मन्दिर जूनियर हाई स्कूल, ललितपुर, तथा मड़ावरा हाई स्कूल के अध्यक्ष हैं।

दिनांक १२ अप्रैल को लखनऊ में गांधी भवन में गांधी स्मारक निधि और जैन मिलन के संयुक्त तत्वावधान में भगवान महावीर को श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु आयोजित सार्वजनिक सभा में जैन समाज और नगर के अहिंसा प्रेमियों द्वारा डा० जैन का अभिनन्दन किया गया और मुख्य अतिथि के रूप में डा० जैन ने सभा को सम्बोधित किया।

उत्तर प्रदेश के मन्त्रिमण्डल के सदस्य के रूप में डा० जैन से समाज को निम्नलिखित अपेक्षायें हैं—

१. उत्तर प्रदेश जैन विद्या शोध संस्थान के समुचित गठन और संचालन के लिए डा० शशि कान्त द्वारा शासन को प्रस्तुत प्रत्यावेदन दिनांक १२-१२-९६ पर त्वरित कार्यवाही हो ताकि संस्थान एक स्वायत्तशासी शोध संस्थान के रूप में विकसित हो सके,

२. तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, को लखनऊ में महावीर भवन के लिए १०००० वर्ग फीट (१००० वर्ग मीटर) भूमि का सांकेतिक दर पर आवंटन किया जाय जिसमें उनका शोध पुस्तकालय, शोध पत्रिका का कार्यालय, आडिटोरियम और शोधार्थियों के लिये अल्प निवास की व्यवस्था की जा सके,

३. उत्तर प्रदेश में स्थित विश्वविद्यालयों में जैन पीठों (Chairs on Jainology) पर नियुक्ति हेतु पदों को अनारक्षित घोषित किया जाय और जैन धर्मावलम्बी अभ्यर्थियों को वरीयता दी जाय, तथा यदि कहीं (यथा, राम मनोहर लोहिया विश्वविद्यालय फैजाबाद) पदों को आरक्षित कर किसी अपात्र की नियुक्ति कर दी गई है तो उस नियुक्ति को निरस्त किया जाय तथा पदों को पुन: विज्ञापित किया जाय,

४. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, में जैन कला वीथिका की समुचित व्यवस्था की जाय,

५. जैन तीर्थ क्षेत्रों को सम्पर्क मार्गों से यथावश्यक जोड़ा जाये, और वहां प्रकाश एवं पेय जल की समुचित व्यवस्था की जाए, और

६. जैनों को भी, अन्य अल्पमतावलम्बियों (यथा सिख, बौद्ध, मुसलमान, पारसी व ईसाई) की भांति, अपनी शिक्षण संस्थाओं, दातव्य संस्थाओं और धार्मिक आस्थानों के नियमन, प्रबन्धन व नियुक्ति आदि में स्वायत्तता दी जाय।

आशा और विश्वास है कि डा० जैन अपने प्रभाव का समुचित उपयोग कर शासन स्तर से शीघ्र ही उपरोक्त बिन्दुओं पर समुचित कार्यवाही सुनिश्चित करायेंगे।

—डा० शशि कान्त

साहित्य सत्कार

जैन संस्कृति के आलोक में विदिशा—ले०-श्री गुलाब चन्द्र जैन, राजकमल स्टोर्स, विदिशा, म० प्र०; १९९८; पृष्ठ६४; मूल्य रु० १५/-

भगवज्जिनसेनाचार्य कृत **उत्तर पुराण** में दसवें तीर्थंकर भगवान शीतलनाथ के गर्भ, जन्म व तप त्रय-कल्याणकों की पावन भूमि मलय देश की भद्रिलपुर नगरी को बताया गया है। विद्वान लेखक ने इस नगरी की पहचान वर्तमान में मध्य प्रदेश के नगर विदिशा, अपरनाम भेलसा, से की है तथा इसके समर्थन में पुष्ट प्रमाण देते हुए अनेक इतिहासकारों का भी मत दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विदिशा प्राचीन काल में एक सुप्रसिद्ध वैभव-शाली नगरी थी तथा इसके आस-पास से प्राप्त पुरावशेषों से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन काल में यह जैन धर्म का एक वैभवशाली केन्द्र रही। पुरावशेषों में उत्खनन से भगवान शीतल नाथ की भी एक अति मनोज्ञ चार फुट ऊंची भूरे-कत्थई पाषाण की पद्मासन प्रतिमा प्राप्त हुई है जो स्थानीय श्री शांति नाथ जी दिगम्बर जैन मन्दिर में विराजमान कर दी गई है। विदिशा से ५ कि० मी० दूर भ० शीतल नाथ व अनेकों मुनिवरों की साधना स्थली उदयगिरि पर दो प्रमुख गुफा जैन मन्दिर हैं जिनमें से एक भारत की सर्वाधिक प्राचीन गुफाओं में से एक है। पुस्तक में विदिशा तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र के दिगम्बर जैन मन्दिरों व मूर्तियों आदि का सचित्र विवरण भी प्रस्तुत किया गया है।

मन्दिर—प्रवचनकार युवा मुनि श्री अमित सागर; प्रकाशक-श्री अनिल कुमार जैन, चन्दा कापी हाउस, हास्पिटल रोड, आगरा; द्वितीय संस्करण १९९७; पृष्ठ ७२; मूल्य – आचरण, मनन, चिन्तन, समीक्षा

जैन धर्म में मन्दिरों को नव देवताओं में गिना गया है। पूज्य मुनि श्री अमित सागर जी के प्रवचनों के प्रस्तुत संकलन में त्रिन

मन्दिर व उसके विभिन्न अंगों—तीर्थंकर प्रतिमा, घन्टा, शिखर आदि की उपादेयता एवं महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है कि मन्दिर जाने के पूर्व तथा मन्दिर जाते समय क्या करना चाहिए, मन्दिर में कैसे प्रवेश करना चाहिए, दर्शन की क्या विधि है, तथा स्वाध्याय एवं गुरु वन्दना क्यों करनी चाहिए। पुस्तक धर्मनिष्ठ श्रावकों के लिए उपयोगी है।

स्वराज्य और जैन महिलायें—ले० डा० (श्रीमती) ज्योति जैन; प्रकाशक-श्री कैलाश चन्द्र जैन स्मृति न्यास, खतौली; प्राप्ति स्थान जैन बुक एजेन्सी, सी-९, कनाट प्लेस, नई दिल्ली-११०००१; १९९७; पृष्ठ ४८, मूल्य रु० २५/-

देश के स्वतन्त्रता संग्राम में जैनों का योगदान भी समाज के किसी अन्य वर्ग की तुलना में कम नहीं रहा तथा महिलाओं ने भी पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर कार्य किया। डा० कपूरचंद जैन के शब्दों में, "कुछ तो सीधे ही क्रान्तिकारी आन्दोलनों से सम्बद्ध रहीं, कुछ ने जेलों की दारुण यातनाएं सहीं, अनेकों धरने, विदेशी वस्त्र बहिष्कार जैसे आन्दोलनों में सक्रिय रहीं, पर इनसे भी अधिक ऐसी महिलाओं की संख्या है जिन्होंने आरती उतार कर अपने पतियों को सहर्ष जेल भेजा और घर की दुश्चिन्ताओं से उन्हें मुक्त रखा।" समीक्ष्य कृति में विदुषी लेखिका जी ने बड़े परिश्रम से स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय भाग लेने वाली, विशेष कर जेल जाने वाली, ३८ महिलाओं का परिचय संकलित कर प्रस्तुत किया है। जैन कवयित्रियों की देश भक्ति से ओत-प्रोत कतिपय कविताओं की प्रस्तुति के साथ पुस्तक का समापन किया गया है। लेखिका जी का प्रयास सराहनीय है। पुस्तक संग्रहणीय है।

—अजित प्रसाद जैन

आचार्य कुन्दकुन्द देव—मूल कन्नड ले० -श्री एम० बी० पाटील (शेड-वाल); हिन्दी अनुवाद—श्री यशपाल जैन एवं पं० भरतेश पाटील शास्त्री; प्रकाशक—श्री दिगम्बर जैन ट्रस्ट, १४१, आर० टी० स्ट्रीट, बैंगलोर-५६००५३; पृष्ठ १४०; मूल्य रु० ६/-

लेखक ने यह कृति सुपक्व बुद्धिधारकों को अध्यात्म-प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द की महिमा बताने तथा उन्हें अध्यात्म ग्रन्थों के अध्ययन की प्रेरणा देने के उद्देश्य से रची है। इस चरित्र पुस्तक में भगवान महावीर और गौतम गणधर के उपरान्त मंगल माने जाने वाले आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन—विशिष्ट बचपन, उत्तरोत्तर वृद्धिगत आत्मसाधना और उसकी महिमा, उनके द्वारा प्रगाढ़ गम्भीर लोकोपकारी साहित्य की रचना, उनके विदेह क्षेत्र गमन सम्बन्धी अनुश्रुति आदि का वर्णन लेखक ने अपनी जानकारी, बुद्धि एवं कल्पना के अनुसार किया है और इस कृति को इतिहास की कसौटी पर न कसने का निवेदन वाचकों से किया है। कुन्दकुन्द की कृतियों—पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, बारस अणुवेक्खा, तिरुक्कुरल और भक्ति संग्रह—का परिचय भी दिया गया है।

भारतीय दर्शन की विशेषतायें—ले० - डा० विश्वनाथ याज्ञिक; प्रकाशक—भारतीय ज्ञान वीथिका, यहियागंज, लखनऊ-२२६००३; १९९४; पृष्ठ ९५; मूल्य रु० १०/-

विविधता में एकता का प्रतिपादन करने की उदात्त भावना से कवि, विचारक, लेखक तथा तत्त्वदर्शी डा० याज्ञिक ने इस पुस्तक में भारत में प्रसूत और पल्लवित विभिन्न दार्शनिक मतों व विचार-धाराओं का निरूपण किया है। जहां आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, शैव दर्शन, वैष्णव मत, वेदान्त दर्शन, सिख मत, अघोर पंथ, कबीर पंथ, दादू पंथ, नाथ सम्प्रदाय, रामोपासक विभिन्न मतों आदि का विवेचन किया है, वहीं अवैदिक नास्तिक दर्शनों के अन्तर्गत चार्वाक् दर्शन, बौद्ध मत और जैन-आर्हत दर्शन की परिचयात्मक विवेचना की है। छह पृष्ठों में जैन दर्शन की विशिष्टताओं पर प्रकाश डाला गया है। एक जैनेतर विद्वान द्वारा, जैन धर्म और दर्शन सम्बन्धी उसके ज्ञान की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए, किया गया यह विवेचन, पूर्णतः प्रामाणिक न होते हुए भी काफी तथ्यपरक और ज्ञानप्रद है। भारत

के विभिन्न दर्शनों को समझने और उनका परस्पर तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से भी यह पुस्तक उपयोगी है।

—रमा कान्त जैन

History of Jainism in Bihar, by Dr. Binod Kumar Tiwary; pub. The Academic Press, Patel Nagar, Gurgaon-122001; 1996; pp. iv + 214 + 3 maps + index; price Rs. 300/-

As stated by the author, the present volume is very much connected with his research work, in which he has tried to deal with the rise of Jainism in Bihar in the 6th century B.C. and also the last phase of its existence prior to the mighty invasion of the Muslims of this land in and about the 12th century A.D. Besides the introduction and conclusion, the study is divided into 6 chapters respectively dealing with life and work of Mahavira, Jainism before the Mauryas, Jainism in Mauryan period, Jainism before the Guptas, Jainism in Gupta period, and the last phase. Bibliography is exhaustive and runs into 25 pages. The chapters are well documented with reference.

Whatever came to the notice of the author in any book, journal or article, has been studiously incorporated, making it a handy compendium of all that has been linked to Jainism in Bihar over the years. But it would have been more useful as a research work if the author had examined the material critically and rejected the illogical. The traditional lore relating to the 12-year Famine and Chandragupta Maurya - Bhadrabahu linking to Shravanabelagola, is one such point. Reading too much in the inscriptions of Ashoka to find his lean-

(शेष पृष्ठ ८३ पर)

समाचार विमर्श

—श्री अजित प्रसाद जैन

भट्टारक जी के वाहन त्याग की पृष्ठभूमि

तीर्थंकर (मासिक) के जून १९९७ के अंक में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि "श्री क्षेत्र श्रवणबेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी जी ने महावीर जयन्ती (२० अप्रैल, १९९७) को जीवन पर्यन्त किसी भी किस्म के वाहन का उपयोग न करने की घोषणा की है तथा अब वे **जैन मुनियों की तरह** पद यात्रा करेंगे और समाज को २१वीं सदी के लिए जगाएंगे।" समाचार में यह भी लिखा था कि "स्वामी जी के इस **अभूत पूर्व** त्याग ने जहां एक ओर भट्टारकीय जीवन शैली को उदाहरणीय मोड़ प्रदान किया है वहीं दूसरी ओर अन्य भट्टारकों के लिए दुविधा की स्थिति उत्पन्न कर दी है। जैन समाज में सर्वत्र उनके इस संकल्प का स्वागत किया गया।"

इस समाचार का विवेचन हमने **शोधादर्श**-३२ के पृष्ठ १७५-१७८ पर किया था। **तीर्थंकर** के विद्वान सम्पादक जी ने दि० २१ अप्रैल, १९९७, को ही भट्टारक स्वामी जी से एक साक्षात्कार में भट्टारक संस्था के विषय में चर्चा की थी जिसका विवरण उक्त पत्रिका के अक्टूबर १९९७ के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस साक्षात्कार में स्वामी जी ने अपने वाहन त्याग के संकल्प की पृष्ठभूमि पर भी निम्न प्रकार प्रकाश डाला है—

(पृष्ठ ८२ का शेष)

ings towards Jainism, is another. The nude torsos from Lohanipur also need further examination in the light of the development of the anthropomorphic form of the image of deity from the extant finds.

The get-up is fine. Printing errors are minimal. Dr. Tiwary rightly deserves our appreciation for this well documented presentation.

—डा० शशि कान्त

"एक मन्दिर की सीढ़ियां उतरते समय चक्कर आ गया, नीचे नहीं गिरा, लोगों ने पकड़ लिया पर रीढ़ की हड्डी में थोड़ा सा फर्क आ गया। साइड इफैक्ट्स हुए। तीन चार महीने बाद **डाक्टर ने बताया कि दो** महीने विश्राम करना है, **गाड़ी का उपयोग नहीं करना है**।......कल मेरी दीक्षा को २७ साल हुए, तब से मैं गाड़ी का उपयोग लगातार करता रहा हूँ। मुझे अमरीका, यूरोप, अफ्रीका इत्यादि सभी देशों में यात्रा करने का अवसर मिला। वहां जा कर काम करने की अब कोई इच्छा नहीं है........**कल पट्टाभिषेक दिवस पर वाहन त्याग की घोषणा कर दी**......**तथापि मैंने इसमें एक छूट रख ली है** कि धर्म, समाज या श्री क्षेत्र की अति अनिवार्य स्थिति में गाड़ी का, वाहन का उपयोग करुंगा।"

सम्पादक जी को भट्टारक जी के वाहन-त्याग संकल्प की पृष्ठभूमि की जानकारी अप्रैल में हो गई थी। जून के अंक में प्रकाशित इस संकल्प को जो मूलत: शारीरिक अस्वस्थता के कारण लिया गया था, तथा जिसमें अपरिहार्य स्थितियों में छूट की गुंजाइश भी रख ली गई थी, **अभूतपूर्व** की संज्ञा देना अतिशयोक्ति ही कहलाएगा। भट्टारक जी के पद विहार को दिगम्बर जैन मुनि के पद विहार के समान बताना दिगम्बर जैन मुनित्व का अवमूल्यन करना ही कदाचित् कहलाएगा क्योंकि वे मुनिवर तो ईर्या समिति के पालक भी होते हैं तथा प्रत्येक पग यह सावधानी बरतते हुए रखते हैं कि किसी छुद्रतम जीव की भी दबने से विराधना न हो जाए। यह सावधानी अन्य पदविहारी परिव्राजक अनिवार्य रूप से नहीं बरतते।

बलात्कार के आरोपी दिवंगत मुनि निर्दोष सिद्ध

शोधादर्श-३३ (नवम्बर, १९९७) के सम्पादकीय लेख "जैन समाज को अल्प-संख्यक की मान्यता" में हमने अनोप मण्डल का बृहत्तर हिन्दू समाज की धार्मिक सहिष्णुता की जन सामान्य में जमी छवि पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाले सनातन धर्म के कट्टर झण्डा-बरदार के रूप में उल्लेख किया था तथा जैन धर्म विद्वेषी इस

अनोप मण्डल की आतंकवादी कार्यवाही का भी उल्लेख किया था जो मुख्य रूप से राजस्थान के जालोर, पाली, सिरोही तथा जोधपुर जिलों में सक्रिय है। गत ६ सितम्बर, ९७, को भीनमाल (जिला जालोर) में ३७-वर्षीया श्रीमती नैना जोगाणी द्वारा जैन (श्वेताम्बर) मुनि श्री लोकेन्द्र विजय के विरुद्ध बलात्कार के आरोप की प्राथमिकी दर्ज कराने पर पुलिस अधीक्षक श्री हेमन्त प्रियदर्शी के निर्देश पर पुलिस रात्रि में उपाश्रय में घुस कर जहां मुनि जी अपने गुरु तथा कुछ अन्य सन्तों के सहित चातुर्मास रत थे, बिना कुछ बताए, मुनि जी को जबरदस्ती गर्दन से पकड़ कर जीप में डाल कर थाने ले गई। इस कुकर्म के अपराध को कबूल करवाने के लिए पुलिस अधीक्षक द्वारा मुनि जी के साथ जो बेहूदा व असहनीय दुर्व्यवहार किया गया तथा उन पर जो यह घ्रणित आरोप लगाया गया इससे मर्माहत हो कर मुनि जी ने १० सितम्बर को उपाश्रय में तेज़ाब पीकर आत्म-हत्या कर ली।

प्राथमिकी में बलात्कार उपाश्रय में प्रातः ८.४५ पर किया गया दर्ज कराया गया था, जबकि उस समय मुनि जी नियमित रूप से अन्य सन्तों के सानिध्य में प्रवचन करते होते थे तथा पर्यूषण पर्व होने के कारण उपाश्रय में श्रावक भी भारी संख्या में उपस्थित थे। किन्तु पुलिस ने इन तथ्यों पर कोई ध्यान नहीं दिया।

मुनि जी पर लगाए गए घ्रणित आरोप से तथा तदनन्तर उनकी आत्महत्या से जैन समाज में भारी आक्रोश फैल गया व उन्होंने शान्ति पूर्ण प्रदर्शन के द्वारा पुलिस अधीक्षक हेमन्त प्रियदर्शी को हटाए जाने तथा उसके विरुद्ध समुचित कार्यवाही की मांग की। विधान सभा में भी यह मांग उठी और अन्ततः मुख्य मंत्री जी ने मांग को स्वीकार करते हुए श्री प्रियदर्शी को निलम्बित करते हुए इस प्रकरण की जांच मण्डलायुक्त को सौंप दी। इस पर अनोप मण्डल तथा राष्ट्रीय जनता दल के नेतृत्व में असामाजिक तत्त्वों की भारी भीड़ ने न केवल भीनमाल में वरन् वहां से ७२ कि० मी० दूर जालोर नगर में भी जैनियों की सम्पत्ति की जो लूटपाट की, क्षति

पहुंचाई, और सुप्रसिद्ध श्री नन्दीश्वर द्वीप जिनालय में जो तोड़-फोड़ की **उसका उल्लेख हम शोधादर्श**-३३ में कर चुके हैं। मण्डलायुक्त श्री ललित के० पवार द्वारा अपनी जांच रिपोर्ट में पुलिस अधीक्षक हेमन्त प्रियदर्शी को दोष मुक्त करार देने से राज्य सरकार ने श्री प्रियदर्शी को बहाल कर दिया।

मुनि जी के रक्त का तथा श्रीमती जोगाणी के कपड़ों पर लगे वीर्य के धब्बों को डी०एन०ए० परीक्षण के लिए हैदराबाद स्थित सैन्ट्रल सैलुलर एण्ड मौलीक्युलर बायोलाजी संस्थान को भेजा गया था। राज्य सरकार को अब इस संस्थान से डी०एन०ए० परीक्षण की रिपोर्ट प्राप्त हो गई है। **रिपोर्ट में यह साफ-साफ बताया गया है कि मुनि जी के रक्त को तथा महिला के कपड़ों पर लगे वीर्य के धब्बों की जांच से बलात्कार की रिपोर्ट झूठी साबित होती है।** इसके पूर्व जालोर में महिला की ७ सितम्बर को कराई गई जांच रिपोर्ट में मेडिकल बोर्ड ने उसके जननाँगपर किसी चोट या घाव का न पाया जाना तथा तेरह वर्ष पहिले उसकी बच्चादानी निकाल दिया जाना प्रमाणित कर दिया था।

डी० एन० ए० परीक्षण की रिपोर्ट से अब यह भली भांति स्पष्ट हो गया है कि **दिवंगत मुनि जी को तथा जैन धर्म को बदनाम करने की नीयत से ही मुनि जी को बलात्कार के मिथ्या आरोप में** फंसाया गया था तथा एक ऐसी महिला को मोहरा बनाया गया जो कुछ अन्य कारणों से मुनि जी से रुष्ट थी। राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा गुजरात के अनेक समाचार पत्रों (**राजस्थान पत्रिका, दैनिक नव ज्योति, दैनिक भास्कर**, **नवभारत, नई दुनिया**, **प्रसारण, सांध्य दैनिक, आजकल, गुजरात समाचार** आदि) ने मुनि जी के निर्दोष सिद्ध होने के समाचार को प्रमुखता से प्रकाशित किया है। इस षडयन्त्र में लिप्त दोषी पुलिस अधिकारियों व मिथ्या आरोप लगाने वाली महिला के विरुद्ध समुचित कानूनी व दण्डात्मक कार्यवाही किए जाने के लिए जैन समाज की जोरदार मांग को भी प्रमुखता से प्रकाशित किया गया है। (आधार–**श्वेताम्बर जैन**, १६ मार्च, ९८)

अभिनन्दन

७ फरवरी, १९९८, को श्री महावीर जी में जैन विद्या संस्थान की ओर से **डा० रमेश चन्द्र जैन,** बिजनौर, को उनकी कृति दिगम्बरत्व की खोज पर **महावीर पुरस्कार** से और **डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'** को उनकी कृति **मानव धर्म और पर्यावरण** पर **ब्र० पूरणचन्द्र रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार** से सम्मानित किया गया।

१२वीं लोक सभा हेतु चण्डीगढ़ से **श्री सत्यपाल जैन** और राजस्थान से **श्री मीठा लाल जैन, सांसद** निर्वाचित हुए।

म० प्र० लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित **मध्य प्रदेश राज्य सिविल सेवा परीक्षा** में जबलपुर के **श्री निलय जैन सतभैया'** ने द्वितीय स्थान प्राप्त किया। अन्य कई जैन युवा भी परीक्षा में सफल रहे।

८ फरवरी को तमिलनाडु के तिरुमलै क्षेत्र में अरहत्सुगिरि एक नया जैन मठ स्थापित हुआ और ब्र०/छु० धरणेन्द्र कुमार, 'स्वस्ति श्री धवलकीर्ति भट्टारक स्वामी जी' के नाम से उसके मठाधीश बने।

श्री महावीरजी में ९ मार्च को सम्पन्न अखिल भारतीय जैन मिलन के अधिवेशन में श्री सुरेश चन्द्र जैन (देहरादून) राष्ट्रीय अध्यक्ष, श्री सुरेन्द्र कुमार हेगड़े (कर्नाटक) कार्यकारी अध्यक्ष, श्री राजेन्द्र कुमार जैन (लखनऊ) वरिष्ठ उपाध्यक्ष, श्री ए० के० जैन (दिल्ली) कोषाध्यक्ष, श्री जय चन्द जैन (मुजफ्फरनगर) प्रचार मंत्री और श्री रोहित कुमार जैन (लखनऊ) क्षेत्र सं० १ के क्षेत्रीय अध्यक्ष सर्वसम्मति से निर्वाचित हुये।

साहू अशोक कुमार जैन को अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी का पांच वर्ष के लिए अध्यक्ष पुनः निर्वाचित कर लिया गया यद्यपि वह अनुपस्थित थे, गम्भीर रूप से अस्वस्थ हैं और प्रवर्तन निदेशालय की पूछताछ से भी त्रस्त हैं।

उपरोक्त सभी महानुभावों का उनकी उपलब्धि पर **शोधादर्श** परिवार अभिनन्दन करता है।

समाचार विविधा

डा० जगदीश चन्द्र जैन पर डाक टिकट

२८ जनवरी, १९९८, को भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन संस्था, पुणे, में श्री मोहन धारिया ने विख्यात प्राच्य-विद्या संशोधक डा० जगदीश चन्द्र जैन की स्मृति में भारतीय डाक विभाग द्वारा जारी किये गये डाक टिकट का विमोचन किया। इससे पूर्व लाला लाजपतराय, डा० विक्रम साराभाई, कर्मवीर भाऊराव पाटील और मुनि मिश्रीमल जी महाराज नामक चार जैन महानुभावों पर डाक टिकट जारी हो चुके हैं।

एनोमालोन (Anomalon) नामक नये परमाणु की खोज

भारत में जन्मे और बफैलो विश्वविद्यालय, संयुक्त राज्य अमेरिका, में कार्यरत वैज्ञानिक श्री प्यारे जैन ने साधारण फोटोग्राफिक प्लेट से स्वनिर्मित डिटेक्टर (संसूचक) द्वारा एक नये परमाणु 'एनोमालोन' की खोज की है जो विज्ञान के अनेक अनसुलझे रहस्यों पर प्रकाश डालेगा जिनमें क्वार्क-ग्लुओन जीवद्रव्य (quark-gluon plasma) भी सम्मिलित है जो शिशु लोक की प्रारम्भिक अवस्था मानी जाती है।

मुनि लोकेन्द्र विजय प्रकरण

श्वेताम्बर जैन, दिनांक १६-३-९८, में प्रकाशित समाचारों के आधार से पृ०-८४-८६ पर विमर्श दिया गया है। उक्त सन्दर्भ में यह उल्लेख किया जाना भी अपेक्षित है कि **India Today** में प्रकाशित समाचार में डी० एन० ए० टेस्ट की रिपोर्ट पर प्रश्न-चिन्ह लगाया गया है और महिलाओं के कुछ संगठन उसकी जांच किये जाने की मांग भी कर रहे हैं। राजस्थान उच्च न्यायालय के एक कार्यरत न्यायमूर्ति की अध्यक्षता में गठित न्यायिक जांच आयोग की रिपोर्ट भी अभी प्रतीक्षित है। यह भी उल्लेखनीय है कि शिकायतकर्ता महिला उन्हीं मुनि जी की भक्त एक श्राविका थी।

मूल निवासी जैन समाज

भारत के लगभग सभी प्रदेशों में वहां की मूलनिवासी जैन

समाज बड़ी संख्या में रहता है जो मूलतः किसान है। व्यापार में इनकी रूचि कम होती है, इनके उपनाम प्रादेशिक होते हैं, अपने नाम के आगे 'जैन' शब्द नहीं लगाते, और जिस प्रदेश में वे रहते हैं उस प्रदेश की प्रादेशिक बोली/भाषा इनकी मातृभाषा होती है। महाराष्ट्र में चतुर्थ, पंचम, कासार, सैतवाल, कलार व कांबोज (१५ लाख), बिहार-बंगाल-उड़ीसा में सराक, आदिवासी, सदगोप व रंगिया (३५ लाख), कर्नाटक में चतुर्थ, पंचम, बोगार, जैन ब्राह्मण व बंत (१५ लाख), गुजरात में परमार व पाटीदार (१२ लाख), तमिलनाडु में नैनार, चतुर्थ व पंचम (२ लाख), मध्य प्रदेश में परवार, तारणपंथी व गोलापूर्व (१५ लाख), और राजस्थान में मीणा, वीरवाल, धर्मपाल व अहीर (१० लाख), तथा अन्य—(१० लाख), इस प्रकार इनकी संख्या ११४ लाख के लगभग है। यह समाज आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है तथा अगडी जैन समाज से यह समाज उपेक्षित और दुर्लक्षित है। राष्ट्रीय स्तर पर मूलनिवासी जैन परिषद की स्थापना की गई है जिसका मुख्य उद्देश्य भारत भर के मूलनिवासियों को एक मंच पर लाना और पूरे जैन समाज के सामाजिक प्रश्नों के हल ढूंढ़ना है। संयोजक श्री महावीर चव्हाण से पोस्ट बॉक्स ५८, चिंचवड पूर्व, पुणे ४११ ०१९, पर सम्पर्क किया जा सकता है।

भारतीय जैन मिलन के विवाह सूचना केन्द्र की मासिक डायरेक्ट्री

इसमें विवाह योग्य पात्रों के विवरण फोटो सहित उपलब्ध किये जाते हैं। इसका न्यूनतम चन्दा ५ रुपये मासिक है। मन्दिर के कार्यकर्ता ६० रु० का वार्षिक चन्दा मनीआर्डर द्वारा श्री हंस कुमार जैन, चेयरमैन, भारतीय जैन मिलन विवाह सूचना केन्द्र, ३७, डिफेन्स एन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-११००९२ को भेज कर अपने निवास पर यह पत्रिका मंगा सकते हैं।

गंध हस्ति महाभाष्य-अन्वेषण पुरस्कार

जो विद्वान मनीषी आचार्य समन्तभद्र द्वारा दूसरी शती ईस्वी में प्रणीत संस्कृत ग्रन्थ **गंध हस्ति महाभाष्य** को खोज कर उसकी

मौलिक या फोटो प्रति उपलब्ध करायेंगे उन्हें अनेकान्त ज्ञान मन्दिर, बीना, द्वारा २,९९,९९९ रुपये का नकद पुरस्कार "सरस्वती वरद पुत्र अन्वेषक" की उपाधि के साथ दिया जायेगा।

लोकार्पण

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र वहलना (जि० मुजफ्फरनगर) पर डॉ० अरविन्द जैन, स्वास्थ्य राज्य मन्त्री, उ० प्र०, ने डॉ० (श्रीमती) ज्योति जैन की **स्वराज्य और जैन महिलायें** पुस्तक का लोकार्पण करते हुए कहा कि "इस पुस्तक से देश यह जान सकेगा कि जैन समाज की महिलाओं ने चौका और घूंघट से निकल कर किस प्रकार आजादी की लड़ाई लड़ी थी।" इसी से विदित होता है कि भारत की सर्वप्रथम निर्वाचित महिला विधायक श्रीमती लेखवती जैन थीं। इस अवसर पर जैन मिलन मुजफ्फरनगर द्वारा लेखिका को सम्मानित भी किया गया।

New titles on Jainism

JAINISM–A Pictorial Guide to the Religion of Non-Violence, by Kurt Titze, with contributions by Dr. Klaus Bruhn, Dr. Jyoti Prasad Jain, Dr. Noel Q. King, and Dr. Vilas A. Sangave, is to be shortly published by M/s Motilal Banarsidass Publishers Private Limited, Jawahar Nagar, Delhi-110007. It will be a hard cover book of 280 pages with 252 illustrations, 50 in colour, and a map of India showing Jain places of pilgrimage.

शोक संवेदन

१ दिसम्बर, १९९७, को झांसी में **अध्यात्म-पर्व-पत्रिका** के सम्पादक श्री नरेन्द्र कुमार जैन के पिता और सुप्रसिद्ध श्रमिक नेता एवं समाजसेवी, ९०-वर्षीय, श्री राज बहादुर जैन का धर्म ध्यान करते हुए निधन हो गया।

१ दिसम्बर को ही कानपुर नगर में प्रतिष्ठित वस्त्र-व्यवसायी, सुश्रावक, ६६-वर्षीय श्री कुमुदेश चन्द्र जैन का निधन हो गया।

१८ जनवरी, १९९८, को मूडबिद्री में भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति स्वामी पंडितवर्य स्वर्गवासी हुए ।

२० फरवरी को लखनऊ में ६७-वर्षीय सुश्रावक एवं कवि श्री कुमुद चन्द्र जैन 'कुमुद' का निधन हो गया ।

फरवरी मास में ही अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद के संरक्षक रायसाहब ज्योति प्रसाद जैन का १०१ वर्ष की आयु में दिल्ली में निधन हो गया ।

२७ मार्च को लखनऊ में ६५-वर्षीय धर्मनिष्ठ श्रावक श्री गोपाल दास जैन, बर्तन वालों, का निधन हो गया ।

उपरोक्त सभी महानुभावों के प्रति **शोधादर्श** परिवार अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है और शोक संतप्त परिजनों के प्रति अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है ।

पाठकों की दृष्टि में

शोधादर्श-३३ मिला, पूरा बांचा । आगामी काल में कौन करेगा, ऐसी खरी बातें ? यही सोच है ।

—**पं० पद्म चन्द्र जैन**, सम्पादक, **अनेकान्त, नई दिल्ली**

आपके **शोधादर्श** को ही पढ़ कर आपकी याद बनी रहती है व ज्ञानवर्द्धन होता है । सारे ही लेख सारगर्भित होते हैं ।

—**श्री हुकम चन्द जैन**, मेरठ

शोधादर्श पर आपका श्रम सार्थक है । जैन संस्कृति पर अकेला अभिनव प्रकाशन है । इस आपाधापी के युग में इसका निर्बाध प्रकाशन आपकी सम्पादन सामर्थ्य और सूझ-बूझ का परिचायक है ।

—**डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया**, अलीगढ़

शोधादर्श का ३३वां अंक प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई । पूरा अंक बेजोड़ है । अंक आते ही पूरा पढ़ गया हूँ ।

आचार्य समीक्षा पर जो श्री अजित प्रसाद जी ने लिखा है, वह बहुत ही हृदय को छू लेने वाला है । "आशा की एक किरण"

नाम से जो विषय पाठकों के समक्ष आया है, निश्चय ही एक क्रांतिकारी किरण सिद्ध हो सकता है, यदि साधु वर्ग कुछ भी अंशों में उसका पालन करना प्रारम्भ कर दें।

डॉ० ज्योति प्रसाद जी द्वारा रोपित **शोधादर्श** वट बीज आज वट वृक्ष का रूप लेता जा रहा है। इसका श्रेय सम्पादक मण्डल के साथ **शोधादर्श** के लेखकों और पारखी पाठकों को भी जाता है।

—ब्र० संदीप जैन 'सरल', बीना

आपका लेख 'नास्तिक क्यों ?' अच्छा लगा। मनुष्य धार्मिक तभी कहलाया जा सकता है, जब वह नैतिक हो।

—डा० अनिल कुमार जैन, चांदखेड़ा, अहमदाबाद

शोधादर्श का कलेवर दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर प्रगति पर है, यह आप के परिश्रम व अध्यवसाय का सुफल है।

वृद्धों की समस्या, आपका सम्पादकीय, चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु तथा पर्यावरण और जीवदया, जैसे लेख न केवल ज्ञानवर्द्धक हैं, अपितु प्रेरणास्पद भी।

—डा० राम सजीवन शुक्ल, कोंच

यह अंक पिछले अंकों से कई मामलों में समान होते हुए भी अपनी नवीनता की पृष्ठभूमि में अनेक उपयोगी सामग्रियों से सुसज्जित है।

—डा० विनोद कुमार तिवारी, रोसड़ा

पत्रिका में वर्णित समस्त सूचनाएं/निवेदनादि, साथ ही लेख, रचना, समीक्षा, प्रतिक्रिया, सम्मति आदि संक्षेप में होते हुए भी सचमुच अतिशय भावपूर्ण व आत्मीयता बोधक है। यह बहुशः अभिवन्दनीय है।

—श्री मोती लाल 'विजय', कटनी

शोधादर्श का मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया। अधिकांश खोजपूर्ण लेख उत्तम हैं। भट्टारक सकलकीर्ति (जीवन परिचय), आवश्यकों की प्राचीन परम्परा, पर्यावरण और जीवदया, इनमें प्रमुख हैं। साहित्य सत्कार में तथा समाचार विमर्श में निर्भीक

सम्पादकत्व की स्पष्ट झलक मिलती है। आशा है, पत्रिका अप्रत्यक्ष जैन विन्दुओं को और अधिक उजागर कर शोध के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनावेगी।

–**प्रोफेसर डा० धर्मचन्द्र जैन,** कुरुक्षेत्र

शोधादर्श का ३३वां अंक भी नियत समय पर प्राप्त हुआ। इसे अथ से इति तक मनोयोग से पढ़ कर असीम प्रसन्नता का अनुभव हुआ। आप तीनों की योग्यता तथा परिश्रम से **शोधादर्श** गति से प्रगति की ओर बढ़ रहा है—यह अनुभव करके मैं गौरव का अनुभव कर रहा हूँ और मन-ही-मन आप तीनों को हार्दिक बधाई देना चाहता हूँ।

आपके स्व० पिता जी शोध परक ऐतिहासिक लेख लिखने में अत्यन्त कुशल रहे। उनकी लेखनी से स्व० मुख्तार सा० तथा **जैन सन्देश** के यशस्वी सम्पादक प्रभावित रहा करते थे। स्व० डा० साहब की इच्छा और प्रेरणा के अनुसार ही आप तीनों सम्पादक **शोधादर्श** का सम्पादन एवं प्रकाशन कर रहे हैं, अतएव समूचा जैन समाज आपका कृतज्ञ रहेगा।

–**पं० अमृत लाल जैन शास्त्री,** वाराणसी

नवम्बर ९७ का अंक मिला। समस्त संकलन अच्छा लगा। सम्पादकीय तो अति महत्वपूर्ण है।

–**सुश्री विद्या देवी जैन,** हजारीबाग

शोधादर्श पत्रिका में लेख शोधपूर्ण होते हैं। इस अंक में डॉ० ऋषभ चन्द्र फौजदार जी का लेख 'आवश्यकों की प्राचीन परंपरा' काफी अच्छा लगा। इसके साथ आपने जो समाचार विमर्श के अन्तर्गत **आचार्य समीक्षा** से उद्धृत किया है वह वर्तमान समय पर घटित है।

'आशा की एक किरण' शीर्षक से आचार्य धर्मभूषण जी के संघ के २४ नियमों को जो लिखा है, वह वर्तमान में सभी श्रमणों को साधनीय हैं। फिर भी अधिकांश संघ उनका विपरीतता से पालन करते हैं और हम सभी श्रावक गृहस्थ उसमें उनकी मदद करते हैं।

आज जो वस्तु बड़े-बड़े श्रीमन्तों को देखने को नहीं मिलती, वह वस्तु श्रमण संघों में देखी जा सकती है। लिखने को आप सब कुछ लिख देते हैं परन्तु अन्तर कुछ भी नहीं पड़ रहा है।

—**डा० हरिश्चन्द्र शास्त्री**, मुरेना

शोधादर्श-३३ में भी अतिशय विचारार्ह सामग्री है। आपका प्रयास स्तुत्यर्ह है।

—**पं० मनोहर मारवडकर**, नागपुर

शोधादर्श पढ़ कर मुझे बहुत अच्छा लगता है क्योंकि इसमें आध्यात्मिक और खोजपूर्ण लेखों का अच्छा समावेश होने लगा है।

—**श्री इन्द्र जीत जैन**, एडवोकेट, कानपुर

I have just received **Shodhadarsh** Nov. 97 issue. Refer to page 289 about **Silent Scream**. Do not call it Bhroon Hatya, for within 40 days from the moment of conception, this is a complete child with full brain working and parts of the body grown. 'After 3 months' is a false propaganda slogan. This film would show this. Mass revolution started long back in Western countries and even this became an issue in Parliament for vote division on Legislation to ban abortions, in Canada. In USA, people are self conscious on the issue. NO ABORTIONS has become a habit/practice there.

I can be contacted for further information on the subject.

—**Sahu Shailendra Kumar Jain**, Adv., Khurja

श्री रमा कान्त जैन ने भट्टारक सकलकीर्ति के सम्बन्ध में गवेषणात्मक लेख प्रस्तुत कर यह तो बताया कि भट्टारक सकलकीर्ति नाम के कई अन्य व्यक्ति भी हुए हैं, परन्तु वास्तविक सकलकीर्ति जिनकी वन्दनायें ब्र० जिनदास कृत **हरिवंश पुराण** तथा **जम्बूस्वामी चरित्र** में की गयी हैं, वे कौन हैं और उनका साहित्यिक अवदान क्या है, यह निश्चित नहीं हो सका। अब माता-पिता के

प्रति आज्ञाकारिता तथा श्रद्धा का भाव क्षीणप्राय: होता जा रहा है; ऐसे में डॉ० ज्योति प्रसाद जैन का लेख बड़ा सामयिक और समस्या प्रधान है।

श्री कैलाश भूषण जिन्दल के लेख 'दया भाव—संविधान की अपेक्षा' में यह तो कहा गया है कि संविधान का अनुच्छेद ५१ए (६) कहता है कि 'भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह प्राणि मात्र के प्रति दया भाव रखे।' परन्तु प्रश्न यह है कि संवैधानिक प्राविधान के बावजूद राज्य सरकारों द्वारा कुक्कुट पालन व मत्स्य पालन जैसे विभाग स्थापित करके खुले आम असंख्य मुर्गे और चूजे क्यों हलाल कराये जा रहे हैं। आज़ादी के बाद भारत में मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ी है।

'नास्तिक क्यों?' एक विचारोत्तेजक लेख है। मूर्ति पूजा, तीर्थाटन, धर्म-ग्रन्थों का पाठ, कथा श्रवण यदि मात्र धार्मिक मुखौटा लगाकर किया जाता है, तब तो यह सब न करके धर्म के मूल सिद्धांतों का पालन ही श्रेयस्कर है। परन्तु मनुष्य स्वयमेव इतना ज्ञानी नहीं होता कि वह अपनी प्रसुप्त चेतना को जगा सके। इसीलिये सद्‌गुरू की शरण में जाना होता है। साथ ही नैतिकता क्या है, इसे भी मानव की स्वार्थ बुद्धि समझ नहीं पाती। फलस्वरूप शास्त्रानुशीलन आवश्यक हो जाता है। डॉ० शशि कान्त विचारशील और खुले मस्तिष्क के व्यक्ति हैं। उनका आशय स्पष्ट है कि दिखावे के लिये धर्म का 'लेबिल' लगाना उचित नहीं है। उचित है धर्म के सिद्धान्तों का सत्यतापूर्वक परिपालन। उनके इस विचार की परिपुष्टि शास्त्रों से भी होती है।

यह एक उपयोगी पत्रिका है जो राजनीति से, समाजवाद तथा मार्क्सवाद जैसे दलदल से दूर श्रमण-संस्कृति के शोधन, परिवर्धन तथा विवेचन के कार्य में लगी हुई है। अल्पसंख्यकवाद के सम्बन्ध में डा० शशि कान्त के विचार प्रशंसनीय तथा तथ्य परक हैं।

—**डा० परमानन्द जड़िया**, लखनऊ

'**शोधादर्श** के माध्यम से इतिहास, जैन समाज की आधुनिक स्थिति, जैसे महत्त्वपूर्ण पक्षों की जानकारी मिली। वहीं गुरूवर

ज्योति प्रसाद जी का १९८२ में लिखा लेख 'वृद्धों की समस्या' आज भी उतना ही प्रासंगिक लगा। 'नास्तिक क्यों ?' लेख के अन्तर्गत भाई शशि जी ने ठीक ही लिखा है, "जिसमें साधुत्व होगा वह प्रदर्शन नहीं करेगा,……… । फिर वह किसी भी धर्म के लेबुल से जाना जाता हो, कुछ भी उसकी औपचारिक योग्यता हो………" आदि। ऐसी उपयोगी सामग्री के कारण अंक-३३ महत्त्वपूर्ण है।

—**डा० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी**, लखनऊ

शोधादर्श के माध्यम से भिन्न-भिन्न सम्पादकीय लेखों व टिप्पणियों के द्वारा आप लोग जिन ज्वलन्त, सामयिक एवं महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर पाठकों/समाज का ध्यान खींचते हैं, वह सब अपने आप में बहुत बड़ी निर्भीकता एवं साहस का कार्य है। आज समाज के लोग, विशेषकर बुद्धिजीवी भी, गलतबयानी एवं अन्य विसंगतियों को देख-सुन-पढ़ कर भी मूकदर्शक बने रहते हैं, और प्रायः यथास्थितिवादी बनते जा रहे हैं। हाँ, उनमें कुछ प्रतिशत लोग ऐसे अवश्य हैं, जिनके मन में ऐसे कार्यों के प्रति नफरत एवं आवेश है। परन्तु वे कुछ करते नहीं, या कर नहीं पाते। ऐसी स्थिति में भी आप जिस दृढ़ता के साथ विभिन्न विन्दुओं पर वेबाक टिप्पणी कर देते हैं/लिख देते हैं, यह न केवल बुद्धिजीवियों के लिये अनुकरणीय कार्य है, अपितु सम्पूर्ण समाज की जागृति के लिये भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

—**डा० कमलेश कुमार जैन**, दिल्ली

गुरुगुण कीर्तन के अन्तर्गत भट्टारक सकलकीर्ति विषयक संक्षिप्त जानकारी सारगर्भित है। 'वृद्धों की समस्या' आधुनिक युग की ऐसी विकट समस्या है कि जो भोग रहे हैं बस वे ही समझते हैं, कुछ कहते नहीं बनता। रोग असाध्य हो गया है। कोई गम्भीरता से सोचना नहीं चाहता। ध्यान आकृष्ट कर अच्छा कार्य किया है।

जैन समाज को अल्पसंख्यक की मान्यता मेरे समझ से उचित नहीं है; इस गणना में उन्हें नहीं आना चाहिए। राजा चन्द्रगुप्त को जैन सम्प्रदाय के अन्दर मानना विचारपूर्ण प्रश्न है; बहस की आवश्यकता है व कई शोधपूर्ण लेख उपरान्त निर्णय किया जा सकेगा—

ऐसा मेरा मत है । रही जैन सामग्री की उपयोगिता की बात, तो यह उपयोगी है—निर्विवाद सत्य है । **शोधादर्श** के अंक कुछ अच्छी सुपाच्य सामग्री परोस रहे हैं । इस सूझ-बूझ व दूरदर्शिता के लिए बधाई है ।

—**श्री मदन मोहन वर्मा,** ग्वालियर

इस पत्रिका के माध्यम से आप जैन विद्या के क्षेत्र में नूतन अनुसंधान की दिशा में समर्थ भूमि तैयार कर रहे हैं, खास तौर पर इसमें प्रकाशित शोध आलेख एवम् सारांश समकालीन शोध-परिदृश्य के स्पंदन को पूर्ण कर रहे हैं । अंक-३३ में प्रकाशित 'आवश्यकों की प्राचीन परम्परा', 'भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण में जैन सामग्री के उपयोग की आवश्यकता' तथा 'राजा चन्द्रगुप्त और आचार्य भद्रबाहु' शीर्षक लेख अनुसन्धानपरक होने के साथ ही रोचकता तथा मानवीयता से युक्त हैं ।

—**डॉ० शैलेन्द्र कुमार शर्मा,** उज्जैन

आप उत्तम सामग्री तो देते ही हैं, सामयिक चर्चा भी पूरी ईमानदारी से करते हैं यह **शोधादर्श** की विशेषता है । मेरी बधाई स्वीकार करें । "अल्पसंख्यक" विवाद पर श्री अजित प्रसाद जैन का सम्पादकीय अपने आप में एक मुकम्मल दस्तावेज है ।

—**श्री नीरज जैन**, सतना

डॉ० शशि कान्त जी राज्य सेवा से सेवानिवृत्त होने के बाद **शोधादर्श** के सम्पादन-प्रकाशन में दत्तचित्त हैं और उन्होंने **शोधादर्श** के पिछले अंकों में जैन जगत् से जुड़े अनेकों संवेदनशील प्रश्नों को उठाने के अलावा शास्त्रीय चिन्तन और मनन के अनेकों सारगर्भित लेख प्रकाशित किये हैं । यह बहुत श्रेयस्कर पक्ष है कि इन वर्षों में अनेकों विद्वान **शोधादर्श** से जुड़े हैं ।

प्रस्तुत अंक में भी **जैन समाज को अल्पसंख्यक की मान्यता, आवश्यकों की प्राचीन परम्परा, राजा चन्द्रगुप्त और आचार्य भद्रबाहु,** और **भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में जैन सामग्री के उपयोग की आवश्यकता** जैसे विचारोत्तेजक लेख हैं । वृद्धों की समस्या, नास्तिक

क्यों ?, और जिज्ञासा, जैसे शीर्षक भी **शोधादर्श** की जीवंतता को प्रदर्शित करते हैं।

—**डा० परमेश्वर सोलंकी**, सम्पादक, **तुलसी प्रज्ञा**, लाडनूँ

इस अंक के लेखक

श्री अजित प्रसाद जैन : पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ-२२६००४

श्री इन्द्रजीत जैन : ११३/२३३, स्वरूप नगर, कानपुर-२०८००२

जस्टिस एम० एल० जैन : २१६, मन्दाकिनी एन्क्लेव, अलकनन्दा, नई दिल्ली-११००१९

डा० ज्योति प्रसाद जैन (स्व०) : विश्व-विश्रुत विद्वान

श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' : नरेन्द्र जैन क्लाथ हाउस, २३ मोहन मार्केट (दूसरी गली), अमीनाबाद, लखनऊ-२२६०१८

डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया : मंगल कलश, ३९४, सर्वोदय नगर, अलीगढ़-२०२००१

श्री रमा कान्त जैन : ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

प्रो० राम शरण शर्मा : वेस्ट बोरिंग कैनाल रोड, पटना-८००००१

श्री राजीव कान्त जैन : ५४२-ए, रेलवे आफिसर्स कालोनी, कोटा-३२४००२

श्रीमती वासंती शहा : सम्पादिका, **ज्ञान शलाका**, गंधकुटी, २१/६, कर्वे रोड, पुणे-४११००४

डा० विनोद कुमार तिवारी : रीडर, इतिहास विभाग, यू० आर० कालेज, रोसड़ा (जि० समस्तीपुर)-८४८२१०

आचार्य शिवचन्द्र शर्मा : ११, गांधी कालोनी, सहारनपुर-२४७००१

श्री सुखमाल चन्द्र जैन : राज राजेश्वर भवन, F-३, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-११००१६

डा० शशि कान्त : ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]